स्वास्थ्य शिक्षा की वैज्ञानिक विधि

चर्मरोग चिकित्सा

लेखिका

डा. डिम्पल शाह

(भूतपूर्व सर्जन, दयानन्द अस्पताल)

लेखकीय

बच्चो तथा बडो मे चर्म रोगो की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती है। एक ही चर्म रोग की तल्पिक (Clinical) गति बच्चे और बड़े में भिन्न होती है, क्योकि उनमे शरीर की प्रतिकारिता (reactivity) भिन्न होती है, उनमे अतर्स्रावी स्तर (endocrine status) तथा केंद्रीय नर्वतंत्र (nervous system) की अवस्थाए भिन्न होती है; इसके अतिरिक्त बच्चे का शरीर तेजी से बढने वाला होता है। अनेक अन्य बाते भी है, जिनके कारण उनमें समान प्रकार के रोग अलग-अलग विशेषताओ के साथ प्रकट होते है। इतना ही नहीं, कई चर्मक्लेश (dermatoses) सिर्फ बच्चों में होते हैं और कई सिर्फ बडो मे।

उदाहरणार्थ, व्यावसायिक (व्यवसायजनित) चर्मरोग सिर्फ बडो मे होते है, जबकि जनमारिक स्फोट, मिथ्या फुंसीक्लेश और अपशल्की चर्मशोथ सिर्फ नवजात शिशुओं मे होते है; आरभिक जन्मजात सीफिलिस 4 वर्ष की उम्र मे प्रकट होता है, जबकि विलवित जन्मजात सीफिलिस अधिकांशत 7 वर्ष से 16-18 वर्ष तक प्रकट होता है। अर्जित (acquired) सीफिलिस की विशेषताए बच्चो में अलग होती है।

लेकिन अनेक चर्मरोग ऐसे भी है, जिनकी तल्पिक गति बच्चे और बडे मे समान होती है, या बहुत कम भिन्न होती है। इसीलिय इस एक ही पुस्तक के सामान्य थेरापी तथा बालचिकित्सा दोनों ही के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखा गया है (पहले उनके लिए अलग-अलग पुस्तके लिखी जाती थी)। लेखिका यह भी आशा करती है कि प्रस्तुत पुस्तक चर्मरोग चिकित्सा के क्षेत्र मे कार्यरत डॉक्टरो के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगी।

—डा. डिम्पल शाह

अनुक्रम

चमड़ी के रोग

चर्मलोचन के विकास की एक ऐतिहासिक रूपरेखा

चर्मलोचन (dermatology) आयुर की एक शाखा है, जिसमें चर्मरोगो और उनकी चिकित्सा का अध्ययन होता है ('लोचन' का अर्थ है दर्शन, ईक्षण, निरीक्षण, अत: अध्ययन भी)। इसकी जड़ें अति प्राचीन काल में भी देखी जा सकती है। स्पष्ट रूप से प्रकट होने वाले चर्मरोगों की ओर लोगो का ध्यान बहुत पुराने समय से आकर्षित होता रहा है। इन रोगों के वर्णन विभिन्न देशों के पुराने-से-पुराने लिखित साहित्य में मिल सकते हैं। यथा, 3000-2000 वर्ष ईसा पूर्व के चीनी आयुर-साहित्य के कुष्ट, मोमिता (मोमी चर्म), खाज, मीनत्व (मीनचर्मता), निर्वर्णकता, दिनाइ, खल्वाटता, फुंसीक्लेश, कोलफुंसी, त्वचारुणता और अम्हौरी जैसे रोगो का कमोबेश रूप से सही वर्णन किया गया है। प्राचीन मिस्र की पांडुलिपियों में (3000-1000 वर्ष ई. पू.) दिनाइ, कुष्ठ, खाज, कोलफुंसी, कीलस, ठेला आदि रोगों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सुश्रुत संहिता (800-400 वर्ष ई. पू.) के अनुसार कुष्ठ, खल्वाटता, ठेला और बिवाई (पादक्षति) भारत में बहुत पुराने जमाने से ज्ञात हैं; उसमे खुजली की 14 दवाएं और पित्ती के 40 से अधिक उपाय वर्णित हैं। ईसा से बहुत पूर्व मूसा रचित ग्रंथों में मोमिता, कुष्ठ तथा अनेक अन्य चर्मरोगो के वर्णन मिलते हैं। बाद मे चर्मलोचन विभिन्न देशों में वहां के ज्ञान-विज्ञान और प्रचलित रोगों के अनुसार विकसित होता रहा।

आयुर का महत्त्वपूर्ण विकास प्राचीन ग्रीस मे हुआ। हिप्पोक्रात (Hippocrates, 460-375 ई. पू.) प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने आयुर को धार्मिक आचारों से अलग करने की कोशिश की। उन्होंने अनेक चर्मरोगो का वर्णन किया और उन्हें अंतर्जनित तथा वहिर्जनित (endogenous and exogenous) कारणों के आधार पर दो वर्गो में बांटा। उनका सिद्धात था कि रोग रसों—काले व पीले पित्त, रक्त और कफ के अपसामान्य मिश्रण के कारण होते हैं (अंतर्जनित कारण)। रसों के अपसामान्य मिश्रण का सिद्धांत (रस-सिद्धांत) चर्मलोचन में लंबे समय तक अपना स्थान बनाये रहा। हिप्पोक्रात ने अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया था, जो आज भी प्रचलित हैं—हेर्पेस (विसर्प), लेप्रा (कुष्ठ) आलोपेसिया (खल्वाटता), आप्थे

श्वेनव्रण) कार्सीनोमा ककाब–oma क लिय -अबुद की जगह सक्षेप म अव का भी प्रयोग करेगे अनु) ग्कथीमा पेतेखिए आदि

रोम के लेखक सेल्स (Celsus 25 ई.) ने अपनी कृति De medicina libri ocot ('आठ खडो मे आयुर') मे कई अध्याय चर्मरोगों को अर्पित किय है, जैसे–फुसी, कोलफुसी, रोमकूप-क्लेश (सीकोसिस), त्वचारुगता (एरीसीपेलास), खर्जूक्लेश (प्सोरिआसिस), नुकीला कडार्बुद (कोदीलोमा), छत्तदार खाज, गहन लोमतृणत्व (त्रिखोफीतोसिस) आदि को। वे चर्मक्लेशो के इलाज में धूप, गर्मी तथा व्यायाम के उपयोग की सलाह देते थे।

विख्यात फारसी विद्वान् अबू-अली अल-हुस्सैन इब्न-सीना (लातीनीकृत नाम आवीसेना, Avicenna) का जन्म 980 में हुआ था, वे कुछ समय तक बुखारा मे रहे थे और अरबी मे लिखते थे। उन्होने बुदबुदिया, पित्ती, कड्डु, गीनिया-कृमि का वर्णन किया था और श्लीपद तथा कुष्ठ में भेद बताया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'चिकित्सा के नियम' में इब्न-सीना ने चीनी, भारतीय तथा यूनानी चिकित्सा का ही वर्णन नहीं किया है, चिकित्सा के क्षेत्र मे उन्होंने मौलिक योगदान भी किया है। उनकी अनेक अपेक्षाए और नुस्खे आज भी सही है।

मध्ययुगीन सामंती राज में चर्च के बोलबाला के कारण चर्मलोचन समेत सभी प्रकृतिविज्ञानो के विकास मे एक थिराव आ गया था। सामतवाद की तुलना मे अधिक प्रगतिकारी समाज पूंजीवाद के विकास के बाद ही विज्ञान, कला और उद्योग मे एक सामान्य प्रगति आरभ हुई। यह प्रगति चर्मलोचन के क्षेत्र मे भी आयी।

1571 मे इटली के मेर्कूरिआलिस ने चर्मरोगों पर प्रथम पुस्तक (De morbis cutaneus) लिखी। चर्म की अनाटोमी और शरीरलोचन का भी तेजी से विकास होने लगा। मार्सेलो माल्पीगी ने अधिचर्म (epidermis) की शृगी, श्लेष्मल तथा कांटल परतो में भेद किया, वसीय व स्वेदक ग्रंथियों तथा रोमकूपों का वर्णन किया और वसीय कोशिकाओं की खोज की।

18वीं शती के अंत मे विएना के प्रोफेसर जोसेफ प्लेक ने चर्मलोचन की एक पाठ्यपुस्तक Doctrina de morbis cutaneus (1776) लिखी, जिसमे सभी चर्मरोग 14 वर्गो मे वांटे गये थे। इस वर्गीकरण का आधार रोगो की सिर्फ बाह्य समानताए थी; शरीर की सामान्य अवस्था, हेतुलोचनी (aetiological) तथा अन्य घटकों को ध्यान मे नहीं रखा गया था। चर्मरोगो के अध्ययन मे रूपलोचनी (morphological) चरण के इसी आरभ से चर्मलोचन एक स्वतत्र विज्ञान के रूप मे उभरा, जिसकी अपनी विशिष्ट परीक्षण-विधिया थी। चर्मलोचन मे रूपलोचनी सिद्धांत का आगे चलकर विकास ब्रिटिश स्कूल की कृतियों मे हुआ, जिसके

जान-मान पवतक रावट विलियम (1757 1812) और उनके शिष्य थोमस बेटमैन (1775 1821 थे विलियम ने ही शब्द 'एक्जेमा (दिनाइ) प्रस्तावित किया था जा अब विस्तृत रूप से प्रचलित हे उन्होने इस रोग का स्पष्ट वणन दिया चमरोगों पर एक पाठ्यपुस्तक लिखी, जिसे बडी मान्यता प्राप्त हुई। वेटमैन ने प्रथम चर्मलोचनी एटलस नथा चर्मरोगो पर एक पाठ्यपुस्तक प्रकाशित की।

इसी समय फ्रांस मे भी चर्मलोचनी स्कूल विकसित होने लगा, इसके प्रवर्तक जीन आलबेर्ट (1768-1837) थे। इन्होंने चर्मरोगो का वर्गीकरण एक वृक्ष के रूप मे प्रस्तावित किया (तना चर्म था, मुख्य शाखाए रोगों की जातिया थी, छोटी शाखाए उपजातिया और टहनिया उनके प्रकार थीं)। उनका विश्वास था कि चर्मरोगों की उत्पत्ति शरीर मे सामान्य गडबड़ियों, विशेष कुमिश्रणो (डिमक्रेजिया, रसा के कुमिश्रणों), गठनात्मक (constitutional) रोगो तथा पारश्लेषण (diathesis) के कारण होती है। लेकिन इन घटकों का सार एवं कारण अस्पष्ट था, उनका गहन अध्ययन नहीं होता था। उस समय फ्रांसीसी चर्मलोचनी स्कूल के एक अन्य मेधावी प्रतिनिधि भी थे—अटुआन बाजी (Antoine Bazin, 1807-1878)। उन्होंने अपनी कृतियो मे मूलभूत अवधारणाए प्रस्तुत की। इन विचारों का सार यह था कि चर्मरोग वास्तविकता मे नही होता, रोग पूरे शरीर का होता है और त्वचा पर क्षतिया इन रोगों की वाह्य अभिव्यक्ति हैं (स्तुकोवेकोव, 1883)।

इस प्रकार, जिस समय विलियम तथा बेटमैन द्वारा प्रस्तावित रूपलोचनी (रूप के अध्ययन पर आधारित) वर्गीकरण यूरोप मे विशेष लोकप्रिय हो रहा था, इसके विरुद्ध फ्रासीसी चर्मलोचनी स्कूल का वर्गीकरण आया, जो चर्मरोगो की उत्पत्ति के रस-सिद्धात पर आधारित था।

फेर्डीनाड फोन हेब्रा (Ferdinand von Hebra, 1816-1880) विएना के चर्मलोचनी स्कूल के प्रवर्तक और मुख्य प्रतिनिधि माने जाते है। अपने आस्ट्रियाई वर्गीकरण शिष्य कापोजी (Kaposi, 1837-1902) के साथ मिलकर उन्होने चर्मक्लेशो का रोगो-अनाटोमिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो उस समय प्रगतिकारी था और चर्मरोगो के अध्ययन मे एक नये चरण का सूचक था। हेब्रा ने चर्मक्लेशो की उत्पत्ति मे मुख्य भूमिका बाह्य रासायनिक, भौतिकीय एव अन्य क्षोभको (stimuli) की मानी। उन्होंने कुछ रूपलोचनी क्षतियों के अन्य क्षतियो मे विकसित होने की प्रक्रिया का अध्ययन किया, जैसे चित्ती का पिटक मे, पिटक का फोडिया मे, फोडिया का पीपिका में आदि। हेब्रा और कापोजी ने चर्मलोचन पर पाठ्यपुस्तके लिखी, चर्मरोगों के एटलस बनाये और नये किस्म के चर्मक्लेशों का वर्णन किया, जिनमें निम्न के नाम आते हैं—बहुरूपी रिसालु सुर्खी (erythema multiforme exudativum) कडु (prurigo), वर्णकीय चर्मशुष्कता (xeroderma

p gmentos m) केशीय लाल बुसन (p tyriasis rubre pilaris) आदि उन्होंने चर्मरागा की चिकित्सा की बाह्य विधियो की कारगरता बढाने के लिये खोज की। विएना स्कूल की मुख्य गलती थी—रोगकारी घटकों के आधार पर चर्मरोगों के वर्गीकरण के सिद्धात का अवमूल्याकन।

यहा तक चर्मलोचन के विकास का परिणाम यह है कि 19वी शती के अत में और 20वी शती के आरम्भ में इस विज्ञान को महत्त्वपूर्ण सफलताए मिली। सैकडों अज्ञान चर्मरोग प्रकाश में आये, उनका अध्ययन एव वर्णन किया गया, दर्जनो पाठ्यपुस्तके एवं एटलस प्रकाशित हुए, अंतरग एव बहिरंग रोगियो के लिये चर्मलोचनी अस्पताल और तल्पालय खोले गये, आयुरी सस्थानों और विश्वविद्यालयो मे चर्म रोगो के लिये अलग से विभाग बनाये गये, चर्मलोचनी पत्रिकाए प्रकाशित होने लगीं, वैज्ञानिक चर्मलोचनी समाज संगठित होने लगे आदि-आदि।

सूक्ष्मजीवलोचन की तीव्र प्रगति से चर्मलोचन मे हेतुलोचनी विचारधारा विकसित हुई। अनेक खुमीज रोगो के कारक प्रकाश मे आये, जैसे—1839 मे मोमिता का, 1842 में परजीविज रोमकूपशोथ का, 1843 मे सूक्ष्मस्पोरन का, 1844 में नरप्रेमी लोमतृणत्व का, 1846 मे गुलावी बुसन का। 1850 मे कठोर कोलफुसी और 1873 मे कुष्ठ के कारक ज्ञात हुए। स्त्रेप्तोकोक और स्ताफिलोकोक 1880-1884 मे वर्णित हुए, यक्ष्माकारी बासिल 1882 मे, प्रथम निस्यदी वीरुस 1892 में, गोनोकोक 1879 में, त्रेपोनेमा पालीडुम 1905 में आदि। इन खोजो की सहायता से रोगों का हेतुलोचनी (कारण के अध्ययन पर आधारित) वर्गीकरण सभव हुआ। जल्द ही यह भी ज्ञात हो गया कि शरीर में जीवाणु की उपस्थिति का यह अर्थ नही होता कि रोग होगा ही, इसके अतिरिक्त यह भी पता चला कि एक ही जीवाणु अलग-अलग लोगो मे एक ही रोग को विभिन्न रूपो से उत्पन्न कर सकते है। रोग का विकास प्रेरित करने वाले प्रवणकारी घटको (predisposing factors) का गंभीरता के साथ अध्ययन होने लगा। और इस तरह चर्मलोचन मे गदजनन के अध्ययन की प्रवृत्ति को महत्ता मिली।

रूसी चर्मलोचकों (अ॰ पलतेब्नोव, अ॰ पस्पेलोव, पा॰ निकोल्स्की तथा अन्य) ने आयुर और विशेषकर चर्मलोचन मे गदजनन (pathogenesis) के अध्ययन की प्रवृत्ति के विकास मे वहुत बडा योगदान किया है। चर्मक्लेशो के विकास ने पनपू (vegetative) नर्वतंत्र की भूमिका का गहरा अध्ययन होने लगा। परोर्जन (allergy; शरीर की परिवर्तित सवेदिता या सवेदनशीलता) की छानबीन भी आगे बढी—आर्थस-पिर्के (Arthus-pirquet), याडास्सोन (jadassohn) जुल्ट्सबेर्गेर आदि की कृतियों मे। चर्मरोगो की उत्पत्ति और उनके कारणो पर अतस्रावी (endocrine) क्रियाओं तथा अन्य घटकों के प्रभाव का अन्वीक्षण होने लगा।

सामान्य चर्मलोचन

आदमी का स्वास्थ्य, शरीर मे नार्विक (nervous), अतर्स्रावी (endocrine), हृत्कुभिक (cardiovascular) तथा अन्य तंत्रो की कार्यशीलता, द्रव्य-विनिमय की सक्रियता और प्रवृत्ति आदि अनेक घटक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चर्म की भी अवस्था तथा कार्य पर असर डालते है।

पूरे शरीर की एक अखंड इकाई के रूप मे सक्रियता और चर्म के बीच एक प्रत्यक्ष निर्भरता पायी जाती है। चर्मलोचन का अध्ययन चर्म की अनाटोमी ओर शरीरलोचन से शुरू करते वक्त इस बात पर जरूर जोर देना चाहिये कि चर्म शरीर का एक अभिन्न अग है और शरीर के अन्य कार्यो के साथ घनिष्ठ सबंध रखता है।

चर्म की अनाटोमी और ऊतलोचन

चर्म-अनाटोमी (skin anatomy). आदमी का चर्म (चमड़ी, cutis) उसके शरीर का बाहरी आवरण है, वह शरीर के प्राकृतिक छेदो—मुह, नाक, मूत्र-जननेंद्रिय और गुदा के पास पहुचकर श्लेषमल झिल्ली (mucous membrane) के साथ मिल जाता है। वयस्को मे चर्म की सतह 1.5 से $2m^2$ तक होती है, जबकि मोटाई (अधोचार्म वसा (subcutaneous fat) को छोड़कर) मिलीमीटर के कुछ अशो से लेकर (पलक और बाह्य श्रवण-मार्ग पर) 4mm तक (हथेलियो और तलवो पर) होती है। अधोचार्म वसा की भी मोटाई जगह-जगह पर काफी भिन्न होती है। कुछ जगहों पर वह होती ही नही है और कुछ जगहों पर (जैसे मोटे आदमी के पेट और नितबो पर) उसकी मोटाई कई सेंटीमीटर तक पहुंच सकती है। वयस्क मे अकेले चर्म का द्रव्यमान (mass) पूरे शरीर के द्रव्यमान का लगभग 5 प्रतिशत अश होता है, जबकि अधोचार्म वसा के साथ करीब 16 से 17 7 प्रतिशत होता है।

चर्म की सतह (त्वचा) पर अनेक खाचे (खात, खातिकाए), सलवटें और अवनमन (गड्ढे) पाये जाते है, वह तीकोण और रोबवत (rhomboid) क्षेत्रो के एक जटिल क्रम (चटाई) के रूप में दिखती है। चेहरे की झुर्रिया, हथेली, तलवे और फोते (अडकोष) की सलवटें चर्म पर स्थूल खातिकाएं हैं। हथेली और तलवे पर एक-दूसरे के समानातर चलने वाली मेड़े और खातिकाए तरह-तरह की आकृतिया

बनाती हैं इनका नमूना हर आदमी के लिये अपना व्यक्तिगत होना है जो आदमी को पहचानने के लिये एक विश्वस्त चिह्न है ग्गला की छाप के अध्ययन ग्गला दर्शन या डाक्टिलोस्कोपी मे इसी का उपयोग होता है।)

त्वचा की ऊपरी झलक चटाई की वुनावट जैसी होनी है। उसका अपना विशिष्ट रग होता है, जो उसे वनाने वाले ऊतको के रग, शृगी एव कणमय परत की मोटाई, चर्म के भीतर दिखने वाली रक्त-कुंभियो (blood vessels) आर मेलानिन नामक वर्णक की उपस्थिति पर निर्भर करता है। त्वचा का रग बदल भी सकता है, क्योकि चर्म मे उपस्थित वर्णक की मात्रा वाह्य और आतर घटको के प्रभाव से बढती-घटती रहती है।

त्वचा का अधिकाश क्षेत्र वालो (लोमो) से आच्छादित रहता है। लोमरहित क्षेत्र निम्न है—होंठ (सिदूरी सीमा, vermillion boarder), हथेलिया और तलवे (उगलियो समेत), लिगपूग (glans penis), वृहत भगोष्ठ की आतर सतह आर लघु भगोष्ठ (large and small pudendal lips)।

त्वचा में मुश्किल से दिखने वाले रध्र होते है, जो स्वेद-मार्ग और वपाल ग्रथियो (sebaceus glands) के द्वार है। कुछ बीमारियो मे (जैसे वपास्राव, seborrhoea मे) ये रध्र नगी आखो से भी दिखने लगते है।

उगलियों के अंतिम खडो की पश्च सतह पर नख होते हैं।

चर्म का ऊतलोचन (skin histology) भववृत्ति (ontogensis) मे चर्म दो अंकुरदायी स्थलो से विकसित होता है—

(1) बाह्य भ्रूणचर्म, जिसे बहिर्चर्म (ectoderm), बहिरंकुर (ectoblast) या अध्यंकुर (epiblast) कहते है; यह अधिचर्म में परिणत होता है।

(2) मध्य भ्रूणचर्म (mesoderm) या मध्याकुर (mesoblast), जिससे चर्म की दो परते विकसित होती है—सुचर्म (वास्तविक चर्म, dermis) या मध्य परत ओर अधोचार्म वसा या अवचर्म (सवसे गहरी चर्म-परत)।

अधिचर्म और सुचर्म के बीच की सीमा (काट या अनुच्छेद पर) लहरदार रेखा के रूप मे होती है, क्योकि सुचर्म की सतह पर विशेष प्रकार के स्तभाकार उभार (चुचिकाए या पिटिकाए, papillae,) वने रहते है, जिनके बीच का अवकाश उपकलीय प्रवर्धो (epithelial processes) से भरा रहता है।

अधिचर्म

अधिचर्म (epidermis) चर्म की सबसे वाहरी परत है; यह पटलित (stratified) उपकला या पपडी (epithelium) है, जो शृगीभवन (keratinisation) की प्रक्रिया मे उत्पन्न होती है। अधिचर्म स्वय भी पाच परतो से बनी होती है—

सामान्य चर्म का ऊतलोचन (आरेख)

ाधिचम, 2 सूचर्म, 3 अवचार्म वसा 4 वपाल ग्रंथि, 5 लोमकूप (मांशका) 6

(1) आधारीय या अकुरक परत (2) काटल परत, (3) कणमय परत, (4) स्वच्छ परत, (5) शृंगी परत। हथेली और तलवे पर ये परते अधिक स्पष्ट है, चेहरे, वक्ष और हाथ-पैर की आकोचनी सतहो (जहां ये अग मुडते है, वहा की सतह, (flexor surfaces)) पर स्वच्छ परत अनुपस्थित होती है, लेकिन इन क्षेत्रो मे कणमय परत कोशिकाओ की इकहरी कतार से बनी होती है, जो कही-कहीं टूटी भी होती है।

अधिचर्म मे नर्व-सिराए (nerve endings) अनेक होती हैं, लेकिन रक्तवाही कुंभियां एक भी नहीं; कोशिकाओं का पोषण अतराकोशिकीय झिरियो से बहकर आती लसीका (lymph) द्वारा होता है।

आधारीय या अंकुरक परत (straum basale or germinativum) अधिचर्म की सबसे भीतरी (गहरी) परत है और सीधे सुचर्म पर टिकी होती है। यह बल्लाकार कोशिकाओं की इकहरी परत से बनी होती है; इन कोशिकाओं के बीच झिरीनुमा स्थान (अवकाश) अंतराकोशिकीय सेतु कहलाता है। बड़े-बड़े गोल या अडाकार नाभिक अधिकांशतः इन कोशिकाओ के ऊपरी भाग में ही दिखते है, जो क्रोमातिन (chromatin) से काफी समृद्ध होते हैं और इससे गाढ़ा रंगे होते है। यही कारण है कि वे ऊपरी परत की कोशिका-नाभिकों की तुलना मे अधिक काले नजर आते है।

अकुरक परत में बल्लाकार कोशिकाओं के अतिरिक्त कही-कहीं पर एक विशेष प्रकार की विशाखनरत (द्रुमाकार या वृक्षाकार, dendritic) कोशिकाओं मे भी होती हैं, जिनका नाभिक नन्हा व काला होता है और प्राटोप्लाज्म (आदिरूप, आदिद्रव्य) बहुत हल्का होता है। इन कोशिकाओं के मुख्य कार्य बल्लाकार कोशिकाओं के ही स्तर पर होते है, लेकिन इनकी बहुसंख्य शाखाएं पड़ोसी कोशिकाओं को जकड़े रहती हैं और ऊपरी परत में कोशिकाओं के बीच-बीच बिंधी रहती हैं।

कार्य की दृष्टि से अकुरक परत की कोशिकाओं मे दो विशेषताएं है। एक तो वे परिचर्म के मुख्य अकुरनशील तत्त्व-एधक (cambrium) है जिनसे अधिचर्म की सभी ऊपरी परतो की कोशिकाएं बनती (पनपती) है। आधारीय झिल्ली पर उदग्र खड़ी बल्लाकार कोशिकाओ का विभाजन सूत्रण (mitosis) से होता है। (सूत्रण या सूत्री विभाजन (mitotic division) कोशिका का सामान्य विभाजन, जिसमे रञ्जकायो (chromosomes) का लबाई के सहारे टूटना, उनके जोड़े बनना तथा सतान-कोशिकाओं मे जोड़ो का समान संख्या मे वितरित होना आदि चरण आते है।—अनु.)। दूसरे, अकुरक परत की कोशिकाओ के प्रोटोप्लाज्म में विभिन्न आकार वाली भूरी गुलिकाओं के रूप में एक वर्णक मेलानिन उपस्थित

रहता है अब य माना जाता कि वर्णक बनने का काम सिर्फ आधारीय परत का द्रुमाकार कोशिकाओ मे होता है जो सही मायने मे मलानो-कोशिकाए (melanocytes) है। अदाज लगाया गया है कि 1mm- क्षेत्र मे आसतन 1155 मेलानो-कोशिकाए होती है। यह भी निर्धारित किया गया है कि काली चमडी मे मेलानो-कोशिकाओ की सख्या गोरी चमडी से अधिक नही होती और त्वचा पर गाढ रग के धब्बे वाले स्थान पर मेलानो-कोशिकाओ की सख्या आस-पास की त्वचा की तुलना मे 28 6 से 44 5 प्रतिशत ही होती है। इसीलिये अब सर्वमान्य है कि त्वचा की वर्णकता मेलानो-कोशिकाओं की सख्या पर नही, उनकी कार्य-क्षमता पर निर्भर करती है। मेलानिन मेलानो-कोशिका के सीतोप्लाज्म (cytoplasm—कोशिकाद्रव्य) मे तीरोजीन (tyrosine) के आक्सीकरण से प्राप्त उत्पादों के बहुलकन से बनता है, पूरी प्रक्रिया तीरोजीनाज (tyrosinase) नामक खमीर (ferment) के प्रभाव मे चलती है, जिसकी सक्रियता ताम्र-आयनो की उपस्थिति पर निर्भर करती है। अतस्रावी ग्रथियो का कार्य भी वर्णक बनने की क्रिया पर सक्रिय प्रभाव डालता है। अनुकपी नर्वो (sympathetic nerves) का क्षोभ (या उद्दीपन, stimulation) वर्णक बनने की क्रिया को दमित करता है, लेकिन पराबैंगनी किरणे, आयनक विकिरण और कुछ रासायनिक द्रव्य इसे प्रोत्साहित करते है। विटामिन, विशेषकर विटामिन C, वर्णक के बनने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

कांटल परत (stratum spinosum) अकुरक परत पर होती है; इसकी मोटाई में कोशिकाओ की 5 से 10 कतारे होती है, जो परत के गहरे भागो मे घनवत (cuboid) होती हैं, पर ऊपर कणमय परत की ओर चपटी होती जाती है। काटल परत की कोशिकाए काटो की तरह उभरी होती हैं और अंकुरक परत की कोशिकाओं के समान ही अतराकोशिकीय सेतुओ से जुड़ी होती है, वे एक-दूसरी को प्रोटोप्लाज्मिक प्रवर्धो द्वारा छूती रहती है। इन कोशिकाओं के नाभिक गोल व बडे होते है और उनमे एक या दो केद्रिकाए (जर्मन डॉक्टर Th Langhan, 1839-1915 के नाम ज्ञात कोशिकाए) दिखायी जा सकती हैं (स्वर्ण-रंजित करने पर)। इनके नाभिक मुश्किल से रंजित होते हैं और इनसे अनेक विशाखित प्रवर्ध निकलते है, जो अन्य कोशिकाओ के बीच फैले रहते है। इन कोशिकाओ मे वर्णक नहीं होता, और ये हमेशा अकुरक परत से ऊपर स्थित होती हैं। लागहान-कोशिकाओ की प्रकृति अभी ज्ञात नही हुई है। कुछ विशेषज्ञ इन्हें नर्व-मूल का मानते हैं, कुछ इन्हे 'प्रवासी' श्वेतकोशिका (leucocytes) कहते है, कुछ मध्यस्रवामूल (mesenchyma origin) का कहते है और कुछ इन्हे वर्णकहीन द्रुमाकार कोशिकाए मानते है। (मध्यस्रवा भ्रूण-पिड के प्राथमिक कोटर मे अगो व ऊतको के अधिक

घने अकुरो के बीच का स्थान ढीले-ढाले रूप से भरने वाली कोशिकाओ को कहते हैं जो रक्त-कोशिकाओ और अस्थीय एव चिकने पेशीय ऊतकों को जन्म देती है।—अनु.) काटल परत की कोशिकाओ में तानुतंतिकाएं (tonofibriles) भी पायी गयी है। ये कोशिका-द्रव्य में होती है और एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक फैली नही रहती, प्रोटोप्लाज्मिक प्रवर्धो मे ही समाप्त हो जाती है। अकुरक परत की बल्लाकार कोशिकाओ के कोशिका-द्रव्य में वे कम स्पष्ट दिखती है। जैसे-जैसे हम ऊपरी परत कणमय परत की ओर बढते हैं, काटल परत की कोशिकाएं चपटी तथा अधिचर्म की सतह के समानातर लबी होती जाती है और ऊपरी परत के साथ कोई स्पष्ट सीमा बनाये बगैर उसमे मिल जाती है।

कणमय परत (stratum granulosum) की मोटाई मे (अधिचर्म के समानातर) कोशिकाओ की एक या दो कतारें होती है (हथेली व तलवे पर चार तक होती है), इनके नाभिक क्रमशः छोटे होते जाते हैं और प्रोटोप्लाज्म मे मुख्य रग से गाढा रजित असंख्य कण दिखने लगते हैं। कुछ विशेषज्ञ इन कणो को नाभिकीय अवजनन (degeneration) का उत्पाद मानते है, अन्य सोचते है कि ये तंतिकाओं के टुकडे-टुकडे होने से बनते है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि ये कण एक विशेष द्रव्य केरातोहिआलिन (keratohyalin—शृंगीकांच) से बनते है, पर बाद में पता चला कि यह द्रव्य न तो शृगी है, न काचर ही; सरचना के अनुसार यह DNA से सबधित है। 'शृगीकांचर' कणो की उपस्थिति अधिचार्म कोशिकाओं के शृंगीभवन (keratinisation) का प्रथम दृश्य चरण है।

अधिचर्म की अंकुरक, कांटल तथा कणमय परतो को अक्सर एक नाम—मालपीगी-परत से पुकारते हैं (M Malphighi, 1628-1694, इतालवी अनोटोमक)।

स्वच्छ परत (stratum lucidum) कणमय परत पर स्थित होती है; यह लमडी कोशिकाओ से बनी होती है, जिनमे प्रकाश को बहुत अधिक अपवर्तित करने वाला एक विशेष प्रोटीन-द्रव्य होता है। यह द्रव्य तेल की बूद से मिलता-जुलता है, अत इसे एलेइडिन कहते है (eleidin; ग्रीक elei=जैतून से)। मुख्य अवयव एलेडडिन के अतिरिक्त स्वच्छ परत मे ग्लीकोजन (glycogen) तथा कुछ वसीय द्रव्य भी होते है, जैसे—लिपोइड (lipoids), ओलेइक अम्ल (oleic acid)।

सामान्य रजन-विधियो (staining methods) के उपयोग से मोटी उपकलीय परत वाले चर्म-क्षेत्रों (जैसे हथेलियों और तलवो) की स्वच्छ परत एक रंगहीन धारी के रूप मे दिखती है। कुछ रोगलोचनी प्रक्रियाओ (मीनत्व, रध्रशृगिता) में भी वह स्पष्ट दिखने लगती है। यह विचार अब प्रमाणित हो चुका है कि पानी ओर विद्युविश्लेषको के लिये अधिचर्म की अवेध्यता स्वच्छ परत से ही सबंधित

है इसमें भी दो उप परतें है ऊपरी परत अम्लीय प्रतिक्रिया करती है और निचली क्षारीय (alka ne) इस प्रकार स्वच्छ परत अधिचर्म की बहुत जटिल परत है

शृंगी परत (stratum corneum) अधिचर्म की सबसे ऊपरी परत है यह बाह्य परिवेश के प्रत्यक्ष संपर्क में आती है और अनेक प्रकार के बाह्य घटको का प्रतिरोध कर सकती है। यह सूक्ष्म, अनाभिकीत, शृंगीभूत व लमडी कोशिकाओं से बनी होती है। वे एक-दूसरी के साथ मजबूती से जुड़ी होती है और एक शृंगी द्रव्य (केरातिन, keratin) से भरी होती है, जिसकी रासायनिक सरचना अभी तक पूरी तरह निर्धारित नहीं हुई है। माना जाता है कि यह कोई अल्बूनोइड (albunoid) द्रव्य है, जिसमे पानी कम और गधक अधिक होता है, इसमे वसाए और पोलीसाखारीद भी पाये जाते हैं।

शृंगी परत का बाहरी भाग कम घना होता है, उसके मुख्य भाग से कभी-कभी और कहीं-कहीं पतली परत-सी अलग होती रहती है। इस प्रक्रिया को शरीरलोचनी विशल्कन (desquamation) कहते हैं। शृंगी परत की मोटाई चर्म मे सर्वत्र समान नही है, वह हथेली व तलवे पर विशेष मोटी होती है और पलकों तथा बाह्य पुरुष-जनेंद्रिय पर बहुत पतली होती है।

चर्म में रक्तापूर्ति

चर्म-ऊतको में रक्त की आपूर्ति रक्तवाही कुंभियों के कई जालों के सहारे होती है। बडी धमनीय कुभियां पट्टिका से अधोचर्म वसा में फैलती है और नन्ही शाखाओं के बंटकर चर्बिल लुडिकाओ तक पहुचती हैं। सुचर्म और अवचर्म की सीमा पर वे ऐसी शाखाओं में बटकर क्षैतिज रूप से फैलती हे, जो पुन: उन्हें आपस में मिलाती है (anastomose—दो कुंभियों, नलियों का आपस मे शाखाओ द्वारा मिलना; शाख-सगम)। चर्म में गहरा धमनीय गुंफ (जाला, बुनावट, plexus) उत्पन्न होता है, जिससे निकली हुई शाखाए स्वेद-ग्रथियो की कुडलियों, लोमकूपो और चर्बिल लुडिकाओ का पोषण करती है। इसके अतिरिक्त, गहरी धमनीय गुफ से पर्याप्त बडी धमनियां भी फूटती हैं, जो अवपिटिकामय (subpapillary) परत में पहुंचती हैं और वहा सतही अवपिटिकामय धमनीय गुफ बुनती है। इससे निकलने वाली नन्ही धमनीय शाखाए पेशियो, वपाल ग्रथियो, स्वेद-ग्रंथियो और लोमकूपो का पोषण करती हैं।

अवपिटिकामय गुंफ से ऐसी भी नन्ही धमनिया निकलती हैं, जो आपस में नही मिलती हैं (और इसीलिये वे अन्त्य धमनिया कहलाती है), ये कुछ दूर तक अधिचर्म के समानातर जाकर कोशिकाओ (capillaries) में परिणत हो जाती हैं,

जो पिटिकाओं मे पहुचकर नन्हे पाश बनाती है। ये पाश क्रमश शिरीय केशिकाओ के पाशो मे परिणत हो जाते है। शिरीय केशिकाए धमनीय केशिकाओं से कुछ चौडी होती है।

पिटिकाओ, वपाल्व ग्रथियो, स्वेद-ग्रथियो की निकास-नलियो, लोमकूपो और पेशियो से निकलकर शिरीय कोशिकाए आपस मे मिलती जाती है और प्रथम सतही अवपिटिकामय शिरीय गुफ तैयार करती है। अधोचार्म वसा तक के क्षेत्र म चार शिरीय गुफ हैं। चौथे गुफ से निकली शिराए अवचर्म से गुजरती है और अधोचार्म (चर्म से नीचे की) शिराओ से मिल जाती हैं।

अधिचर्म में रक्तकुभिया (blood vessels) नही होती।

रक्तकुभ्यियो का सबसे शक्तिशाली जाल चेहरे, हथेलियो, होटो की चमडी मे और गुदा के गिर्द चर्म मे होता है।

चर्मरोगी का परीक्षण

चर्म रोग से ग्रस्त व्यक्ति के परीक्षण की रीति किसी अन्य (जैसे आतर अगो के) रोगी के परीक्षण की रीति से भिन्न होती है, उसकी अपनी विशेषताए होती है। चर्मलोचक अपने रोगी से पूछता है कि उसे क्या शिकायत है और उसे आयुरी सलाह की आवश्यकता क्यों पड़ी है। यदि रोगी बताता है कि उसकी त्वचा या श्लोष्मला पर स्फोट (दाने) निकल आये है, तो डॉक्टर ग्रस्त क्षेत्र को दिखाने के लिये कहता है। इसीलिये चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन मे (विशेषकर अनावासी तल्पालय की परिस्थितियो मे) परीक्षण करते वक्त दृश्य-निरीक्षण को ही प्राथमिकता दी जाती है, रोगी के आयुरी इतिहास से संबंधित तथ्यो के सग्रह, उसकी आयु और जीविका के विश्लेषण को बाद में महत्त्व दिया जाता है। इसका रहस्य क्या है।

यह चर्मलोचन का क-ख है, जिसकी सहायता से रोगी के चर्म पर निदान को 'पढा' जा सकता है। जब कोई चर्मक्लेश स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त रहता है और किसी अतिरिक्त परीक्षण-रीति की आवश्यकता नही रह जाती, तब डॉक्टर निदान करता है। लेकिन इसके बाद भी वह आयुरी इतिहास के तथ्य सग्रह करता रहता है, जिससे उसे रोगी के जीवन और कार्य की परिस्थितियो के विषय मे जानकारी मिलती है, वह रोगी के आतर अंगों व नर्वतत्र की अवस्था तथा अन्य तथ्यो का भी अध्ययन करता है। इन बातो से उसे विवेकसगत चिकित्सा सुझाने और रोग-पुनरावर्तन के विरुद्ध कदम उठाने में सहायता मिलती है। डॉक्टर जितना ही सक्षम होगा, जितना ही समृद्ध उसका तल्पिक अनुभव होगा, जितनी ही उसकी दृश्य-स्मृति विकसित होगी, उतनी ही सरलता के साथ वह स्फोट की प्रकृति

रूपलोचनी क्षतियां का रूप शरीर पर उनका वितरण स्थिति आकृति परिरेखा परिसर मत उनके सबध उनके घनापन आदि के आधार पर रोग का निदान कर सकेगा विशिष्ट प्रवाह वाले सभी चमक्लशो के तल्पिक चित्रों की सूची यहा देना सभव नही है, अत हम लोग उदाहरण के लिये सिर्फ कुछेक चार्म एव रतिज रोगों के नाम बताएंगे, जिनका तल्पिक निदान उनकी वाह्य अभिव्यक्ति मात्र से ही अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

फुसी, कोलफुसी, स्वेदग्रथिशोथ, सामान्य एक्थीमा, बहुरंगी वुसन, ललौसी, पाद-कीट (tinea pedis), वलय-कृमि, मोमिता का शल्की रूप, बुदबुदियानुमा शैवाक, कटिबधक विसर्प, ललामक्लेश, कठचर्नता, दिनाई, पित्ती, खर्जूक्लेश, चोरस शैवाक, कठव्रण, द्वितीयक सीर्फालिमी अवधि का विस्तृत कडार्व आदि अनेक चर्म रोग है, जिनका प्रवाह 'क्लासिकल' रूप में होता है; इनका निदान अनुभवशील डॉक्टर सरलतापूर्वक कर सकता है। फिर भी कुछ स्थितियो मे दृश्य-निदान कठिन होता है, क्योकि अनेक चर्मक्लेशो मे रूपलोचनी समानताए दृष्टिगोचर होती है और 'क्लासिकल' चर्मक्लेशो के तल्पिक चित्र तथा प्रवाह मे भी अक्सर ऐसे लक्षण अवलोकित होते हैं, जो उनके लिये विशिष्ट नही होते (अविशिष्ट लक्षण, atypical features)। ऐसी स्थितियो मे, जब स्फोट के रूप से और यहा तक कि अन्य सहायक परीक्षण-विधियो (परिस्पर्शन, पारदर्शन, स्फोटित क्षति के खुरचन आदि) से भी निदान मे सफलता नही मिलती, तब डॉक्टर को रोगी का आयुर-वृत्त अधिक सविस्तार जमा करना चाहिए और उसकी शिकायतों को अधिक स्पष्ट करना चाहिए। आवश्यकतानुसार उसे आतर अंगों और नर्वतत्र का परीक्षण करना चाहिए (जरूरत पड़ने पर अन्य विशेषज्ञों के साथ मिलकर, रक्त व मूत्र का रूपलोचनी अवयवानुपात निर्धारित करने के लिए परीक्षण करना चाहिए तथा अन्य सामान्य एवं विशेष चर्मलोचनी परीक्षण करने चाहिए जैसे बिओप्टिक सामग्रियों का गदोतलोचनी परीक्षण, कवको की उपस्थित की जाच, त्रेपोनेमा पालीदुम, गोनोकोकस, मीकोबाक्तेरिउम तुबेरकुलोसिस, मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे तथा कटलयक कोशिकाओ की जाच, सीरमलोचनी रक्त-परीक्षण, इमूनोपरोजिक परीक्षण आदि) ताकि निर्णायक निदान किया जा सके और रोग की हेतुलोचनी व गदजनक विशेषताएं निर्धारित की जा सके।

नीचे एक चर्मलोचनी रोगी के परीक्षणो का आरेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

चर्म रोग के निदान मे सावधानीपूर्वक सगृहित आयुर-वृत्त (medical history) का महत्त्व बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वृत्तिज रोग की आशका हो, तो रोगी के काम की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है—बूचडखाने तथा खाद्य-सरक्षक कारखाने मे काम करने वालो को अक्सर चर्मशोणवत्ता होती है,

कच्चे मास (विशेषकर सुअर के मास) और मछली ससाधित करने वालो के साथ भी यही बात है। ग्वालो (दूध दुहने वालो) को ग्वाल-ग्रंथिका और बूचड़ो और चर्मकारो को सिबीरी व्रण होता है, पशु-करोर्जको, साईसो तथा कनारग्रस्त पशुओ की देखभाल करने वालो को कनार (glanders) होता है। ग रणकारी चर्मकृष्णिकता (toxic melanoderma) उन लोगो को होता है, जिन्हे अक्सर हाइड्रोकार्बन (तेल-परिष्करण, गैस आदि के उत्पादो) के सपर्क मे काम करना पड़ता है। यदि चम लेइशमानता, कुष्ठ, फ्लेबोतोम-दश (phlebotoderma) या किसी अन्य चर्मक्लेश की आशका हो, तो यह पता करना चाहिए कि रोगी किसी ऐसे इलाके मे तो नही रहा है (अल्पकाल के लिये भी), जहा ये रोग अवलोकित होते है (उदाहरणार्थ, मध्य एशिया या काकेशस मे, यदि लेइशमानता की आशका है, मदूरा-कवकता, उष्णकटिबंधीय त्रेपोनेमा-क्लेश आदि की आशका होने पर गर्म जलवायु वाले देशों मे)। यदि रोगी मूत्रमार्ग से स्राव और जननाग पर अपरदक व व्रणित क्षतियो की उत्पत्ति की शिकायत करता है, तो निदान के लिये पिछले सायोगिक यौन संसर्गो के समय का ज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है।

मौसमी प्रकृति के चर्मरोगों का निदान अक्सर सरल होता है। उदाहरणार्थ, वसत व पतझड (शरद) ऋतुओ मे बहुरूपी रिसालु ललामी, गुलाबी बुसन, पार्विक ललामी व कटिबधक विसर्प का विशेष कोप रहता है। प्रकाश-चर्मक्लेशो, ललामक्लेश, फ्लेबोतोम-दंश, शाद्वल चर्मशोथो, उग्र अधिचार्म तृणत्व आदि के रोगी डॉक्टरी सलाह के लिये पहली बार वसंत या गर्मी में आते है, शीतशोथ के रोगी सीलन और ठडभरे मौसम मे शिकायत करते हैं।

कभी-कभी निदान मे इस बात से भी सहायता मिलती है कि कुछ चर्मक्लेश पुनरावर्ती होते हैं (दिनाइ, खर्जूक्लेश, पादकीट, रिसालु ललामी, ड्यूरिंग-चर्मशोथ, सरल विसर्प आदि), या इसके विपरीत, कुछ मे पुनरावर्तन की प्रवृत्ति नही होती है (गहन कीट, गुलाबी बुसन, कटिबंधक विसर्प आदि)।

औषधज स्फोट की शका होने पर रोगवृत्त और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है—रोगी ही बताता है कि किसी नियत दवा को मुह (या किसी अन्य तरीके) से ग्रहण करने पर स्फोट पुन. प्रकट हो जाते हैं। यदि उसने इस तरह के सबध अवलोकित नहीं किये है, तो भी स्फोट की औषधजता को एकदम से नकारा नही जा सकता। सावधानीपूर्वक सगृहीत आयुर-वृत्त से स्पष्ट किया जा सकता है कि स्फोट तभी पुनरावर्तित होता है, जब रोगी चौकलेट, स्ट्राबेरी, चिगट (lobster) या कोई फल खाता है, जो इनके प्रति अति सवेदनशील व्यक्तियो मे चर्मगरणता, पित्ती आदि संप्रेरित करता है। यदि परीक्षण के समय रोगी के यक्ष्मा, सीफीलिस आदि रोगों, यकृत, जठरांत्र-मार्ग व रक्त की बीमारियो अथवा नर्वतत्र, अतस्रावी

ग्रथा की गडबडिया का वृत्तात ज्ञात हो या यह पता लगे कि रोगी इनमे से किसी बीमारी से ग्रस्त है तो निदान मे सहायता मिलती है

रोगी से पूछताछ करने पर कभी-कभी रोग की खानदानी प्रकृति स्पष्ट होती है, जिसके आधार पर खाज, चर्मकवकता, आनुवशिक व जन्मजात चर्मक्लेशो (शृगीक्लेशो के कतिपय रूपो, डारिया रोग आदि) का निदान किया जा सकता है। खुजली की उपस्थिति (या अनुपस्थिति), तीव्रता, स्थल तथा उग्रता-काल (दिन मे या रात मे उग्र होता है ?) से सबधित सूचनाए भी प्राप्त की जाती है।

यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि कुछ रोग सिर्फ पुरुषो या सिर्फ स्त्रियो को होते है। उदाहरणार्थ, पर्विका-कडु, चिरकालिक लोमतृणत्व, क्रमिक कठचर्मता और पार्श्विक ललामी ज्यादातर स्त्रियो मे पायी जाती है, जबकि गुड्डल नाक गुल्मवत मुहासा आदि अक्सर पुरुषों को होते है।

स्वाभाविकतः आयुर-वृत्त मे निम्न विषयो से सबंधित बिल्कुल सही सूचनाए सन्निहित होनी चाहिए—रोग के प्रथम (बाह्य) लक्षण कब प्रकट हुए, उनका स्थान व जीवन-काल, उनमे कैसे-कैसे परिवर्तन हुए है (प्रक्रिया की प्रकृति), बारबारता, पुनरावर्तन और उपशमन (शैथिल्य या विमोचन) की अवधि (यदि ऐसा होता है), भोजन (पथ्य) और विगत चिकित्सा पर स्फोट की निर्भरता, चिकित्सा का कारगरता (effectiveness)।

चर्मलोचनी रोगी से रोगवृत्त से सबधित जीवन-वृत्त की पूछताछ वैसी ही होती है, जैसी आतर रोगो के तल्पालय मे।

रोगी के परीक्षण मे अगला कदम है—उसकी सामान्य अवस्था और अलग-अलग अगो व शरीर तत्रो (body systems) की अवस्था का वर्णन।

बच्चों और बड़ों की चिकित्सा के लिये भौतिकीय विधियां

चर्मरोगों की चिकित्सा मे भौतिकीय विधियो का विस्तृत उपयोग है। उनका प्रभाव भौतिकीय कारक के उपयोग-स्थल द्वारा निर्धारित होता है, इसके अतिरिक्त इसे खुराक-बधित उपयोग का पूरे शरीर के कार्य पर नियामक प्रभाव पडता है (यह प्रथम एव द्वितीय सिगनल-तत्र पर प्रतिवर्त-प्रक्रिया द्वारा अभिक्रिया करता है)।

प्रयुक्त भौतिकीय कारक का प्रभाव रोगी को समझा देने पर रोगी के द्वितीय सिगनल-तत्र पर इसका विशेष अच्छा प्रभाव पडता है।

भौतिकीय घटक (प्राकृतिक और कृत्रिम) नियत परिस्थितियो और उचित खुराको में प्रयुक्त करने पर वे कोशिका-पोषण को सही करते है या शरीर के कार्यो

को उद्दीपित करते हैं

वैद्युत् थेरापी

चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन में स्थिर और प्रत्यावर्ती दोनों ही धाराओं का उपयोग होता है। गैल्वेनी और डायेडिनामिक धाराएं स्थिर होती हैं, जबकि डायेथर्मी और पराउच्च-आवृत्तिक धाराएं प्रत्यावर्ती होती हैं।

गैल्वेनी धारा (Galvanic current, galvanosm) का उपयोग चर्मलोचन में चर्म के पार दवा भेजने के लिये होता है (आयन्टोफोरेसिस या गैल्वेनी-आयनन, एलेक्ट्रोफोरेसिस--'विद्युत् से प्रवहन') या स्थिर धारा (विद्युविश्लेषण) से प्लैटिनम के लाल तप्त द्वारा ऊतक के प्रदाहन के लिये होता है।

विद्युप्रवहन शरीर में विभिन्न आयनों का प्रवेश संभव बनाता है, ये आयन निम्न हो सकते हैं--धातु के, क्षारवतों के, जैव नीचायन (कैटायन) एवं ऊचायन (ऐनायन), धातुवतों के, अम्लीय मूल के आदि।

चर्मलोचनी प्रैक्टिस में अक्सर प्रयुक्त कारक निम्न हैं--कैल्सियम क्लोराइड का 0.5-2.0 प्रतिशतीय घोल (स्पष्ट शोथी प्रतिक्रिया और खुजली से युक्त परोर्जिक चर्मक्लेशों में), **मैग्नेशियम सल्फेट** का 2.0-3.0 प्रतिशत घोल (कीलकों की चिकित्सा और नर्वतंत्र पर शांतिदायक प्रभाव के लिये), पोटाशियम या सोडियम आयोडाइड का 0.5-1.0 प्रतिशत घोल (गुल्मवत क्षताक तथा चिरकालिक शोथ-केंद्र दूर करने के लिये), सोडियम ब्रोमाइड का 2 प्रतिशत घोल (कटिबंधक विसर्प तथा पीडाजनक शोथी-प्रक्रियाओं को दूर करने के लिये), इख्थ्यामोल का जल में 1.0 प्रतिशत घोल (चिरकालिक अंतर्स्यदन को शीघ्र विलीन करने के लिये), कॉपर सल्फेट का 1.0 प्रतिशत घोल (फुसीक्लेश की चिकित्सा के लिये), जिंक सल्फेट का 1.0-2.0 प्रति प्रतिशत घोल (सामान्य मुहासा, फुसीक्लेश, स्ताफीलोकोक-जनित लोमकूपशोथ, लाइलाज व्रणसतह में)।

डायेडिनामिक धारा भी एक स्थिर विद्युत् धारा है, यह एक संदिष्ट निम्नावृत्तिक ज्यावत धारा है। इस धारा को उत्पन्न करने वाला उपकरण 'डायेडिनामिक' कहलाता है। चर्मलोचन में इसका उपयोग सिर्फ पीडा-शमन और प्रतिकडुक प्रभाव के लिये होता है (प्रतिवर्त के सहारे)।

डायेथर्मी (पारोष्मन) प्रत्यावर्ती धारा से संबंधित है, जिसकी ध्रुवीयता प्रति सेकेंड 3000000 बार बदलती है। विद्यु-चिनगारी वाले डायेथर्मी उपकरण अब प्रयुक्त नहीं होते, उनकी जगह लैंपयुक्त डायेथर्मी का उपयोग होता है। इस धारा का उपयोग स्थानीय तौर पर गहरे ऊतकों को गर्म करने के लिये होता है (एक्स-रे या तुषारण से उत्पन्न व्रण, क्षताक, सीमित कठचर्मता-अधिकेंद्र में) और प्रतिवर्त

द्वारा भी निम्न वर्गीय डायथर्मी के नाम से जाना जाता है (रेनाउड रोग, वर्सरित नलन और हथेली से अतिस्वेदन आदि में)। सीसे के प्लेटों से बने विद्युत् (electrode) सीधे त्वचा पर लगाये जाते हैं, क्योंकि इस धारा से विद्यु-विश्लेषण नहीं होता और इसीलिये दग्ध भी नहीं होता। डायेथर्मी ऊतकों में तापोत्पादन सम्प्रेरित करता है। चर्मलोचन में **डायेथर्मीकोएगुलेशन (पारोष्मस्कंदन)** या करोर्जिक पारोष्मन के उपयोग से ऊतक का नाश प्रोटीन-स्कंदन के फलस्वरूप होता है। सक्रिय विद्युत की कार्यकर सतह बहुत छोटी होती है, जैसे सुई की नोक, गुलिका, नन्हे पाश आदि के रूप में। पारोष्मस्कंदन का उपयोग निम्न को नष्ट करने में होता है—कीलक, पिटिकार्बुद, चर्मरिशार्व, कुंभिक तिल, दूरकुंभी-विस्फारण। इसका उपयोग मुहासा की चिकित्सा और गोदना दूर करने में भी होता है; अतिलोम में निर्लोमन के लिये भी।

परावृत्तिक धारा (ultrahigh-frequency current, UHF) 1 से 30 करोड़ प्रति सेकंड आवर्तन वाली प्रत्यावर्ती धारा को कहते हैं; यह विद्युचुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करता है। परावृत्तिक धारा का स्रोत (अर्थात् परास्प तरंगों का जनित्र) सिद्धांततः डायेथर्मी-उपकरण जैसा होता है। विद्युतों के रूप में विभिन्न परिमापों तथा आकृतियों के प्लेट प्रयुक्त होते हैं। विद्युत् त्वचा से जितना ही दूर होते हैं, परावृत्तिक धारा का असर उतना ही गहरा होता है। चर्मलोचन में विद्युत् प्लेट को रोगी चर्म-क्षेत्र के निकट ही रखा जाता है क्योंकि चर्म पर प्रभाव डालना होता है (रोमकूपशोथ, फुंसी, कालफुंसी, पूयता आदि में)। उपयोग-सूत्र—5 से 10 मिनट।

एक्स-रे और बुक्की-किरणें (Bucky's rays) कुछ समय पहले चर्मलोचन में एक्स-किरणों का विस्तृत उपयोग था, क्योंकि उनकी अभिक्रिया प्रतिशोथी, प्रतिकंडुक और विलयकारी होती है। ये निम्न रोगों की चिकित्सा में प्रलिखित होती हैं—नार्वचर्मशोथ, चौरस शोवाक, दिनाड, सामान्य एवं कैशोर मुहासे, नाक पर लाल कणों की उत्पत्ति, कोग्लोबाटा मुहासा, स्वेदग्रंथिशोथ, खर्जुक्लेश, गुल्मवत क्षनाक, उपकलार्बुद आदि। फिर भी अनुभव बताते हैं कि शोथी चर्मक्लेशों पर एक्स-किरणों से चिकित्सा का प्रभाव अधिक स्थायी और दीर्घकालीन होता है, जबकि अन्य रोग चिकित्सा का प्रतिरोध करते हैं। अन्य रोगों की स्थिति में एक्स-किरणों से चिकित्सा के असफल होने पर इलाज में परिवर्तन से कोई लाभ नहीं होता, अन्य चिकित्सा-रीतियां भी अकारगर सिद्ध हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, एक्स-किरणों से विभिन्न जटिलताएं भी उत्पन्न हो सकती हैं (एक्स-रे-जनित चर्मशोथ, चर्म-कुपोषणता, व्रणन, कभी-कभी दुर्दम अवजनन भी)। इन कारणों से अब चर्मलोचन में एक्स-किरणों का उपयोग नौवर्धों (new growths) तथा उन चर्मक्लेशों की चिकित्सा तक ही सीमित रह गया है, जो अन्य रीतियों से ठीक नहीं होते।

अब मध्यम (वुक्को के) किरणों का उपयोग अधिक होने लगा है, जैसे- मुहास, परिसीमित नवचर्मशोथ (वाइडल का चिरकालिक सामान्य शैवाक), चिरकालिक दिनाइ, गुल्मवत क्षताको आदि मे।

हाल ही मे पैर के चिरकालिक कुपोषण व्रण की चिकित्सा मे लेसर के उपयोग का परीक्षण किया गया है।

परास्वनिक चिकित्सा—परास्वनिया तापीय, यात्रिक, भौतिकीय तथा रासायनिक प्रभाव डालती है। इनका उपयोग प्रत्यक्ष (त्वचा, पेशियो, सधियो पर) या अप्रत्यक्ष (मेरु पथो, अनुकपी नर्वकवंधो आदि पर) होता है। चर्मलोचन मे परास्वनियो का प्रत्यक्ष स्थानिक उपयोग स्वेदग्रथिशोथ, स्थानाबद्ध खुजली, परिसीमित नार्वचर्मशोथ, खर्जुक सधिरोग तथा कुपोषज व्रणो की चिकित्सा मे होता है। आशिक अप्रत्यक्ष उपयोग निम्न रोगो मे सुसकेतित है—चिरकालिक पुनरावर्ती पित्ती, हर तरह की खुजलिया, विसरित नार्वचर्मशोथ, विसरित कठचर्मता परास्वनियो से औषधो (विटामिन ए, हाइड्रोकोर्टीजोन इमल्शन आदि) का आधान स्वनप्रवहन कहलाता है। इस तरह की चिकित्सा हथेलियों और तलवों के खर्जुक्लेश, नार्वचर्मशोथ के परिसीमित रूपो तथा अतीव्र चरण पर स्थानाबद्ध दिनाइ मे लाभकर होती है।

प्रकाश-चिकित्सा—इसमे मुख्यतः सौर स्पेक्ट्रम की लघुतरगी किरणों का उपयोग होता है (सौर-चिकित्सा), कृत्रिम प्रकाश-स्रोतो से उत्सर्जित किरणो, विशेषकर पराबैंगनी किरणो का उपयोग फोटो-चिकित्सा कहलाता है।

सौर-चिकित्सा—सूर्य की किरणी ऊर्जा में पराबैगनी किरणो का स्पेक्ट्रम भी आता है, जो शरीर में जीवरासायनिक प्रक्रियाओं को प्रोत्साहित करता है। लेकिन यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि पराबैंगनी किरणे डेनु अम्ल (DNA) का सश्लेषण दमित करके ऊतको का लसीकीय कार्य दमित कर देती हैं। सौर किरणी ऊर्जा के अन्य अवयव, जैसे अवरक्त एव दृश्य किरणें शरीर को पराबैंगनी किरणो के प्रति सवेदनशील बनाती है, जिससे शरीर पर उसका प्रभाव बढ़ जाता है। चिकित्सा के लिये सूर्य-स्नान (सूर्यातपन) की अनेक रीतिया है, जो सौर-चिकित्सा प्रलिखित करने के उद्देश्य, चर्म मे रोग-प्रक्रियाओ की तीव्रता तथा रोगी की सामान्य अवस्था पर निर्भर करती हैं।

पराबैगनी किरणो की अभिक्रिया बहुविध है—केंद्रीय एव पनपू नर्व-तंत्रों पर लाभप्रद प्रभाव, पीडाशामक, प्रतिकडुक एव बैक्टेरियानाशक प्रभाव; बालो का वर्धन, वपा एव स्वेद के स्राव को प्रोत्साहन। इसीलिये चर्मलोचन मे ये किरणे बहुमूल्य मानी जाती हैं। सौर चिकित्सा सार्वदैहिक विकिरण के रूप मे अक्सर निम्न रोगो मे प्रयुक्त होती है—फुसीक्लेश, एक्थीमा, खर्जुक्लेश (स्थावर एव अवरोही चरणो पर), वपास्रावी एव जीवाणुक दिनाइ और नार्वचर्मशोथ मे।

फोटो चिकित्सा चमलोचन मे इसका उपयोग मुख्यत कृत्रिम पराबैगनी किरणो से होता है, जो वाख, क्रोमयर, फीन्सेन द्वारा निर्मित पारद-वाष्प से युक्त लैपो से प्राप्त होती है। पहले जैवखुराक अर्थात् पराबैगनी किरणो के प्रति व्यक्तिगत संवेदिता की अवसीमा (निम्नतम मात्रा) निर्धारित की जाती है। जैवखुराक निश्चित दूरी पर स्थित लैप द्वारा ललामी उत्पन्न होने के समय (मिनटो) की इकाइयो मे नापी जाती है। इस समय मे पराबैगनी किरणों की जो मात्रा प्राप्त होती है (ललामी उत्पन्न करने के लिये), उसे ललामिक खुराक कहते है। भिन्न चमरोगो मे त्वचा के भिन्न क्षेत्रो के विकिरणन के लिये जैवखुराको की संख्या भिन्न होती है।

वाख के लैंप से विकिरण का उपयोग मुहासे और चर्मशोणवत्ता मे होता है—एक दिन बीच देकर एक ललामिक खुराक; शीतशोथ में उपललामिक खुराक प्रतिदिन, चर्मशोण मे जैवखुराक की 7-8 गुनी मात्रा। क्रोमेयर-लैंप का उपयोग निम्न रोगो मे होता है—खोतेदार खल्वाटता, गुल्मवत क्षतांक, चर्म-यक्ष्मा।

सामूहिक विकिरणन के लिये भी स्थावर एव सुवाह्य लैपो का विस्तृत उपयोग होता है। स्थानिक फोटो-चिकित्सा के लिये निम्न लक्षणों को ध्यान मे रखना चाहिए (इनका सिर्फ शैक्षणिक महत्त्व है)—(1) जब रूपलोचनी परिवर्तन ललामी, वस्तिका या बुल्ला के रूप मे उत्पन्न होते है (पित्ती, दिनाइ के कुछ रूपो तथा वहुरूप रिसालु ललामी में); चिकित्सा जैवखुराक की चौथाई या इससे भी कम मात्रा से शुरू करनी चाहिए—600 वर्ग सेटीमीटर विस्तृत त्वचा के विकिरणन से। विकिरणन नित्य किया जाता है और हर दो-तीन सत्र बाद चौथाई जैवखुराक वढा दी जाती है, कुल दैनिक खुराक 2 से 2 5 जैवखुराक तक बढायी जा सकती है, विकिरण की कुल सख्या 15 से 20 तक हो सकती है। (2) स्थावर चरण पर पिटकीय क्षतियो वाले रोगो (चौरस शैवाक खर्जुक्लेश, परिसीमित नार्वचर्मशोथ) मे विकिरणन 1.5-3-5 जैवखुराक से शुरू किया जाता है, 100 वर्ग सेटीमीटर विस्तृत त्वचा से। विकिरणन हर दो से पाच दिन पर दोहराया जाता है (जब पूर्ववर्ती विकिरणन की प्रतिक्रिया दूर हो जाती है); हर अगले विकिरणन मे 1.5-3 से 7-8 तक जैवखुराक जोडी जाती है, कुल विकिरणन-सख्या 10 से 15 बार तक। (3) गठिक स्फोटो (tubercular eruption) मे (जैसे चर्म-यक्ष्मा लेइशमैनता आदि के स्थावर चरण पर) पैठन-केद्र पर फीन्सेन या क्रोमेयर के फिल्टर-युक्त लैप से तीव्र विकिरण (15-25 ललामिक खुराक तक) प्रलिखित किया जाता है।

सौर एव कृत्रिमप्रकाशीय चिकित्सा निम्न रोगों मे प्रतिसकेतित है वृक्का दागी वर्णकीय चर्मशुष्कता ल्लोआज्मा

प्रतिलोम

सूर्यातपन निम्न रोग स्थितियों में प्रतिसकेतित होता है हृत्कुभिक तंत्र के तीव्र रोगों में, केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के शरीरगत रोगों में, अपस्मार, रक्त रोगों, दुर्दम नोवर्धो, ढालगरलता, मधुमेह, तीव्र नर्व-दुर्बलता व पनपुंज क्लेश (दा पनपुंज कुतान), फुफ्फुसी यक्ष्मा के आरोही रूप, प्रकाशसंवेदीकरण, दिनाइ तथा नार्वचर्मशोथ के आरोही चरण, खर्जूक्लेश के ग्रीष्म रूप में, दुर्बल एवं कृशकाय लोगों के लिये भी प्रतिसकेतित है।

शीत-चिकित्सा—इसमें कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ का उपयोग होता है। द्रव नाइट्रोजन से हिमित करने का भी उद्देश्य यही होता है। शीत-चिकित्सा की खुराक रोग-केंद्र की सतह पर कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ से अभिक्रिया कराने के समय और सतह पर बर्फ लगाने के दाब की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। यहा दाब की माप आत्मगत है, इसीलिये बर्फ बिना किसी दाब के ही रखना चाहिए और खुराक की मात्रा सिर्फ समय द्वारा नापनी चाहिये। जिस गहराई तक जमाना (हिमित करना) हो, उसके अनुसार बर्फ का उपयोग-काल 5-10 सेकेंड से लेकर (जिससे रक्तातिरेक, कभी-कभी शोफ और अपशल्कन होता है) 30-40 सेकेंड तक (जिससे घोर रक्तातिरेक, शोफ, बुल्ला, खठ्ठी उत्पन्न होती है) और यहा तक कि 1-2 मिनट भी हो सकता है (जिससे ऊतक की मृत्यु हो जाती है)। शीत-चिकित्सा की खुराक रोग-प्रक्रिया के तल्पिक चित्र के आधार पर ही नही, क्षत क्षेत्र की अनाटोमिक-स्थलिक विशेषताओं के अनुसार भी निश्चित की जाती है। रोगी की उम्र तथा अन्य घटकों को भी ध्यान में रखना पडता है।

ठोस कार्बन-डाई-आक्साइड (अर्थात् इसकी बर्फ) से निम्न रोगों की चिकित्सा होती है—चिरकालिक चकतीनुमा ललामिक वृका, वलयाकार कणार्ब, आसे रोजासेआ (ance rosacea) परिसीमित नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक (अतिपोषित रूप), पर्विका-कड्डु, कुभिकार्ब, कीलक (सामान्य या चौरस), वयज श्रृंगार्ब। यदि बच्चे की चिकित्सा में करोर्जिक डायेथर्मी और शीत-चिकित्सा का विकल्प उठे, तो अंतिम को चुनना चाहिए, क्योंकि बच्चे इसे कही अधिक सरलता से सहन कर लेते हे (चोरस एवं सामान्य कीलक, कुंभिक तिल, वलयाकार कणार्ब आदि मे)।

क्षतियों पर स्थानिक प्रभाव डालने की रीति के रूप मे शीत-चिकित्सा निम्न परिस्थितियो मे प्रतिसकेतित है—चकतीनुमा और प्रकीर्णित ललामिक वृका के विसरित रूपों तथा ललामिक वृका के तीव्र रूप मे।

प्राकृतिक घटकों से चिकित्सा

प्राकृतिक-चिकित्सा में रोगी के शरीर पर एक साथ कई घटको से अभिक्रिया

करायी जाती है। निम्न प्रमुख किसी स्थान विशेष की जलवायवी परिस्थितिया खनिज जल स्नान, कीचड़, समुद्रजल, नदियों के मुहाने आदि। सोवियत संघ मे स्वास्थ्य की दृष्टि से ऐसे लाभप्रद स्थानो पर विशेष निरोगालय और विश्राम गृह निर्मित किये गये है, जहा रोगी पर चिकित्सा के कई उपाय एक साथ सकुल मे लागू किये जाते है। यहा चर्मक्लेश की प्रकृति के अनुसार प्राकृतिक घटको के अतिरिक्त अन्य आतरिक एव वाह्य औषधप्रधान चिकित्साए भी सुलभ करायी जाती है, जिससे कम समय मे अधिक फायदा होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से रोग-शमन की अवधि वढ जाती है और पुनरावृत्ति की सख्या कम हो जाती है।

चर्मक्लेशो के तीव्र चरण पर रोगियों को प्राकृतिक चिकित्सा के लिये नही भेजा जाता। रोगी (विशेषकर बच्चो) के शरीर पर प्राकृतिक एव खनिज घटको के प्रभाव वहुविध होते है, खासकर ऐसे, जो हार्मोनी एवं रसीय परिवर्तन उत्पन्न करते है, इसीलिये रोगी को चुनते वक्त उसके चर्म की अवस्था को ही नहीं, उसकी सामान्य शारीरिक अवस्था को भी देखना चाहिए। यह बात विशेषकर उन रोगियो पर लागू होती है, जिन्हे ग्रीष्म मे दक्षिणी इलाको के निरोगालयो मे भेजा जाता है। तीन वर्ष से कम के बच्चो को प्राकृतिक निरोगालय भेजने की सलाह नही दी जाती, यदि आतर अगो के लिये कोई भी प्रतिसंकेत न हो, तब भी। तीन वर्ष से वडे बच्चो को भेजने का निर्णय हृत्कुभिक तत्र एवं अन्य आतर अगो से सबधित सूचनाओ के आधार पर लिया जाता है।

निम्न क्लेशों से ग्रस्त रोगियों की चिकित्सा निरोगालयो मे सफलतापूर्वक हो जाती है—खर्जुक्लेश, दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक, त्वचा पर खुजली, बच्चो व वड़ो मे कडु, कठचर्मता, पित्ती, मीनचर्मता, जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय चर्म-यक्ष्मा के चद रूप (सामान्य वृका, पिटकोमृतिक गठिक्लेश, कठललामी) पेरो के व्रण आदि। प्राकृतिक निरोगालयो में इनका इलाज रोग की स्थावर या अवरोही अवस्थाओ मे और उपशमन-काल में किया जाता है, जिससे पुनरावृत्ति बहुत देर बाद होती है या बिल्कुल नही होती।

वायु-स्नान और सौर-चिकित्सा

वायु-स्नान और सौर-चिकित्सा की लबाई (समय) रोगी की उम्र और सामान्य अवस्था द्वारा निर्धारित की जाती है, इससे शरीर का कठोरन होता है (रोग-प्रतिरोध की क्षमता वढती है), पूरे शरीर और विशेषकर चर्म के इमूनोजेव गुण सुधर जाते है। ऐसी अभिक्रियाओ की प्रकृति बिल्कुल शरीरलोचनी होती है, इसीलिये ये किसी भी प्राकृतिक चिकित्सा के आवश्यक अग हैं। इनका उपयोग विभिन्न जलवायवी परिस्थितियों के अधीन वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु मे संभव है।

वायु-स्नान
जल-स्नान

वायु स्नान शुरू में 5 -7 2 मिनट तक किया जाता है फिर धीरे धीरे इस अंतराल को 1 या 2 घंटे तक बढ़ाया जाता है। वायु-स्नान दिन मे अलग-अलग समय पर किया जाता है, लेकिन नाश्ते या भोजन के बाद नही।

बच्चों के लिये वायु-स्नान 2 या 3 महीने की उम्र से प्रलिखित किया जाता है—शिशु को दिन म दो बार कुछ मिनटों के लिए नगे छोड दिया जाता है। इसके साथ-साथ बच्चे को व्यायाम भी कराया जा सकता है। मौसम और बच्चे की प्रतिक्रिया अनुकूल होने पर वायु-स्नान क्रमश 20-60 मिनट तक बढाया जा सकता है।

समुद्र-स्नान

समुद्र मे स्नान से शरीर पर निम्न घटको का मिला-जुला प्रभाव पडता है—जल में घुले लवणो व गैसो का, यांत्रिक क्षोभो का (जल के घनत्व, नन्ही तरगो से कपन-मालिश आदि), धूप व समुद्री हवा का। समुद्री पानी मे विभिन्न लवण 1 से 5 प्रतिशत तक की सांद्रता मे घुले होते है, ये लवण निम्न आयनो के रूप मे विघटित रहते है—सोडियम, कैल्सियम, क्लोरीन, मैग्नेशियम, ब्रोमीन, आयोडीन आदि के। चिकित्सा के लिये समुद्र-स्नान तभी प्रलिखित किया जाता है, जब पानी का तापक्रम कम-से-कम 18°C हो (बच्चो के लिये इसे 2 या 3°C ऊचा ही रहना चाहिए)। रोगी शुरू-शुरू में 2-3 मिनट तक पानी मे रहता है, फिर यह अवधि क्रमश 10-15-20 मिनट तक बढायी जाती है। चिरकालिक चर्मक्लेशों से ग्रस्त बच्चो को 3 वर्ष की उम्र के बाद ही समुद्र-स्नान प्रलिखित करना चाहिए। शुरू मे कुछ बार उन्हे तभी नहाना चाहिए, जब पानी का तापक्रम 21-23°C से कम न हो और वे उसमे 2 या 3 मिनट तक ठहर सकें। समुद्र-स्नान से चिकित्सा शुरू करने के पहले कुछ दिनों तक बच्चे को वायु-स्नान कराया जाता है और उसका शरीर समुद्री पानी से मला जाता है। उत्तरी (अधिक ठडे) इलाको से आये बच्चो के लिये एक अनुकूलन-अवधि की आवश्यकता पडती है।

समुद्र-स्नान निम्न स्थितियो में प्रतिसकेतित होता है—यक्ष्मा की सक्रिय प्रावस्था, रूमैटिज्म, तीव्र खीरकठोरन, गुर्दो, जठरात्र मार्ग एव रक्त की बीमारियो, हृत्कुभिक एव हृत्क्लोमिक अपूर्णता के स्पष्ट लक्षणो आदि में।

गाह-चिकित्सा

गाह्य (स्नान-लायक) प्राकृतिक वस्तुओ मे खनिज जल मुख्य उपचारक घटक है। भूगत जल के जितने भी ऐसे प्रकार है, जो उनमे विलीन गैसों, अन्य खनिज द्रव्यो तथा सक्रिय चिकित्साकारी आयनो के कारण उपचारक गुण रखते है,

थरापेक खनिज जल क लाते ह

आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार खनिज जल के सात गाद्य प्रकार हैं किन्ही विशेष अवयवों तथा गुणो म हीन जल; (2) कार्बनित जल, (3) गधक-युक्त, (4) लोहा, सखिया आदि से युक्त, (5) ब्रोमीन, आयोडीन स युक्त तथा जैव द्रव्यो से समृद्ध; (6) रश्मिसक्रिय रेडोन से युक्त, (7) सिलिकन थर्मे। इस वर्गीकरण म खनिज जल के भौतिकीय व रासायनिक गुणो और शरीर पर उसके प्रभाव को मिलाने की कोशिश की गयी है।

तापक्रम के अनुसार खनिज जल ठडा, गुनगुना या गर्म होता है।

गधक (हाइड्रोजन सल्फाइड), रेडोन से युक्त जल, कार्बनित खनिज जल तथा सिलिकन थर्मे से युक्त जल का चर्मलोचन में विस्तृत उपयोग है।

कार्बनित (कार्बन-डाई-आक्साइड से युक्त) जल मे शरीर डुबाकर रखना (गाहन) उन चर्मक्लेशों मे लाभकर होता है, जिनमें तीव्र शोथ नहीं होता (जैसे सुप्तावस्था मे खर्जूक्लेश और नार्वचर्मशोथ, चिरकालिक दिनाइ, कडु आदि में) ओर जो स्थायी श्वेत या हल्की लाल चर्मग्राफी से लछिन होते है। इसके प्रतिसकत है—हत्पेशी का इन्फार्क्त, वृक्कशोथ, गुर्दक्लेश।

हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त जल में गाहन 5-10 मिनट तक एक-एक या दो-दो दिनो के अंतराल पर किया जाता है। इसमें स्वतंत्र हाइड्रोजन सल्फाइड की सान्द्रता 30-40 से 100-150 ml/l तक हो सकती है। इसमे गाहन निम्न स्थावर या अवरोधी चर्मक्लेशो के लिये सुसंकेतित है—दिनाइ, खर्जूक्लेश, नार्वचर्मशोथ, कठचर्मता, चौरस शैवाक, पित्ती, मीनचर्मता आदि। प्रतिसकेत वे ही है, जो सभी प्राकृतिक चिकित्सा के लिये होते है, इनके अतिरिक्त निम्न प्रतिसंकेत भी है—क्लोमिक (फुप्फुसी) यक्ष्मा, यकृत तथा गुर्दे की बीमारिया, ढालगरलता।

हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त गर्म जल में हाथों और पैरो का गाहन स्थानिक गाहन-विधि है। बैठकर गाहन या आरोही फुहार मे स्नान मूलाधार या पृष्ठद्वार मे दिनाइ की चिकित्सा के लिये प्रयुक्त होता है; सल्फर या वीखी (vichy) से युक्त जल की फुहार मे स्नान की सलाह खर्जूक्लेश तथा कठचमता के स्थावर रूपों में दी जाती है; सल्फर-युक्त जल से शिरोवल्क तथा चेहरा धोना वपास्राव मे लाभदायक होता है।

रेडोन से युक्त जल में गहन का प्रभाव हाइड्रोजन सल्फाइड में गाहन की अपेक्षा अधिक नर्म होता है। इससे चर्म के शोथ-केंद्रो मे हिस्टामिन, सेरोटोनिन तथा ब्राडीकीनिन जैसे जीवलोचनी सक्रिया क्षोभक द्रव्यो के बनने की तीव्रता कम हो जाती है। स्थायी लाल विसरित चर्मग्राफी से लछित दिनाइ तथा पित्ती की स्थिति में रेडोन-स्नान चर्मगत कुभियो की बेधिता कम करके तथा साथ ही उन्हे

सकोचित करके राग के तीव्र शोथी प्रवाह का कम कर देता है यह प्रगामी खर्जूक्लेश, नारचर्मशोथ और कडु मे भी लाभकर होता है। गाहन-काल 5 से 15 मिनट तक वाछनीय है।

सोवियत सघ में विशेष निरोगालय बनाये गये है, जहा नार्वचर्मशोथ, दिनाइ, कडु तथा कठचर्मता स पीडित बच्चे चिकित्सार्थ भजे जाते हे। प्राकृतिक चिकित्सा मे प्रयुक्त ये खनिज द्रव्य उन लोगो के लिये हानिकर (प्रतिसकेतित) है, जो हृत्कुभिक तत्र तथा अन्य आतर अगो की बीमारियो, चर्म के नौवर्धो तथा चर्मारुणता के शिकार होते हे।

सिलिकन-युक्त जल मे गाहन रेडोन-गाहन जैसा ही प्रभाव डालता है, क्योकि उसमें खनिज लवण बहुत कम होते है और वह क्षोभ नहीं उत्पन्न करता। इसीलिये इसका उपयोग अनेक चर्मक्लेशो के उग्र एव प्रगामी होने के समय भी सभव है। इसके प्रतिसंकेत अन्य खनिज-चिकित्साओ जैसे ही है। गाहन बडों के लिये प्रतिदिन तथा बच्चों के लिये एक दिन बीच देकर वाछनीय है। गाहन-काल 5 से 15-20 मिनट तक हो सकता है, चिकित्सा 15 से 20 बार मे सपन्न होती है।

पंक-चिकित्सा

सोवियत सघ मे करीब सौ निरोगालय है, जिनमे लोगो की चिकित्सा रोगहर पक से की जाती है। गाद (जैसे नदी का मुलायम पंक) और पांस (क्षारीय एव अम्लीय पास—जैव मूल के सडने से बने कीचड) में भेद करना चाहिए; इनमे उपस्थित सक्रिय अवयवों (हाइड्रोजन सल्फाइड, लोहा आदि) का अनुपात भिन्न होता है।

रोगहर पक को 40-44°C तक गर्म करने पर उसमे स्पष्ट विलयकारी गुण आ जाते है। 35-37°C तापक्रम पर पनपू नर्वो के नियमन और उद्दीपन का गुण व्यक्त होता है। खनिज जलो की तुलना मे रोगहर पंक अधिक ताप-चालकता और कम ताप-ग्राहिता रखता है। पंक-चिकित्सा का उपयोग निम्न चर्मरोगो मे किया जाता है—अतर्स्यदित परिसीमित अधिकेंद्रों वाले खर्जुक्लेश, सधार्त्तिक खर्जुक्लेश, परिसीमित एव विसरित नार्वचर्मशोथ, चिरकालिक घट्ठा और शृंगिक दिनाड, कठचर्मता के परिसीमित अधिकेंद्र और चौरस शैवाक के अतिपोषित रूपो मे। पक का उपयोग चर्म के नौवर्धो, रक्तरोगों तथा हृत्कुभिक अपूर्णता की स्थितियों मे प्रतिसंकेतित है।

नफ्थालान तेल से चिकित्सा

नफ्थालान (naphtalan) तेल प्रतिशोथी प्रभाव डालता है और उपकला को

शीघ्र पनपाता है इस तेल में गाहन निम्न रोगों में सुसकेतित है: खर्जुक्लेश चिरकालिक दिनाइ नार्वचर्मशोथ कडु चर्म खुजली पित्ती चौरस शैवाक कठचमता और मीनचर्मता। गाहन-काल 5 से 15–20 मिनट तक हो सकता है, तेल का तापक्रम 36-28°C होना चाहिए, चिकित्सा 15 से 20 बार गाहन से सपन्न होती है। सहनशीलता के अनुसार गाहन एक से तीन दिन के अतरालों पर प्रयुक्त होता है। वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में जिन लोगों का दिनाई या खर्जुक्लेश उग्र रूप धारण करता है, उनके लिये यह गाहन उपयुक्त नही है। अन्य प्रतिसकेत सल्फर-युक्त जल में गाहन जैसे ही हैं।

पैराफिन एवं ओजोसेरीत से चिकित्सा

पिघले हुए पैराफिन का उपयोग गहरे अतर्स्यंद या क्षताक को ताप द्वारा घुलाने मे सहायता के लिये सीमित (ग्रस्त) त्वचा-क्षेत्र पर किया जाता है। यह सीमित क्षेत्रो तथा कुछ चर्मरोगो में ही प्रयुक्त होता है—उपेक्षित खर्जुक धब्बे चौरस शैवाक के अतिशृंगिक रूपो, खोतदार खल्वाटता, नार्वचर्मशोथ और चिरकालिक दिनाइ में अतर्स्यंदित परिसीमित धब्बे, उग्रता से अंतर्स्यंदित संकंदुक मुहासा आदि मे।

ओजोसेरीत (ozocerite; mountain wax) सूक्ष्म क्रिस्टलो वाले पैराफिन के उच्चश्यान एव हल्के तेलों का मिश्रण है, जिसे भूगत गुफाओ और तैल परतो से प्राप्त किया जाता है। यह स्पष्ट अतर्स्यंदन, शैवाकीकरण और अतिशृंगन से लछित चर्मरोगो की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है। अनुकूल थेरापिक गुणों, कम कीमत और प्रयोग-सरलता के कारण चर्मलोचन में ओजोसेरीत का विस्तृत उपयोग है। इसके अतिरिक्त, अल्प ताप-चालकता एव उच्च ताप-ग्राहिता के कारण यह रेत, पांस या पैराफिन से अधिक कारगर है (इसमें ताप को रोककर रखने की क्षमता पैराफिन से लगभग दुगुनी है)। निरोगालयों मे इसका उपयोग अन्य प्राकृतिक चिकित्सा-रीतियो के सकुल मे होता है। इसका परिवहन सरल होने के कारण इसे किसी भी शहर या गाव में (निरोगालय से बाहर भी) बच्चो व बडो की चिकित्सा में प्रयुक्त किया जा सकता है। तापीय प्रभाव के अतिरिक्त ओजोसेरीत रासायनिक, भौतिकीय और जीवलोचनी प्रभाव भी डालता है; इसमे उपस्थित जीवलोचनी सक्रिय द्रव्य अवसवेदक, प्रतिकडुक तथा प्रतिशोथी प्रभाव डालते है। ओजोसेरीत 45-60°C तक गर्म किया जाता है और लेप या गजी की पुल्टिस के रूप मे प्रयुक्त होता है। इसके सुसकेत पैराफिन की तरह ही हैं; प्रतिसकेत निम्न है—तीव्र एवं अवतीव्र चर्मक्लेश, दुर्दम नौवर्ध, रक्तरोग, हत्कुंभिक कार्यो की अपूर्ति।

फुंसी॰ फुंसीक्लेश

फुसी की गणना चर्मपूयता के सामान्य रूपों मे होती है। यह लोम-मशिका और उसके गिर्द के योजक ऊतको मे तीव्र स्ताफिलोकोकी पूयमृतिक शोथ को कहते है।

हेतुलोचन फुसी का निमित्त कारण **स्ताफिलोकोकस औरेउस** (सुनहरे स्ताफिलोकोक) है, कभी-कभी **स्ताफिलोकोकस** आल्बुस (श्वेत स्ताफिलोकोक) भी कहते है।

गदजनन फुंसी स्वस्थ त्वचा पर उत्पन्न हो सकती है या पहले से ही उपस्थित सतही या गहरी स्ताफिलोचर्मता की क्लिष्टता (उसका उपद्रवी रूप) हो सकती है। इन जीवाणु-जातियों की गदजनकता और विषालुता के अतिरिक्त फुंसी तथा फुसीक्लेश के विकास मे बहिर्जनित एव अतर्जनित प्रवणकारी घटक भी बहुमूल्य भूमिका निभाते हैं। बहिर्जनित घटक निम्न हैं—धूल, कोयले या धातु के कण से त्वचा पर हल्की यांत्रिक क्षति, जो पैठन के लिये प्रवेश-द्वार का काम करती है; कपडो के साथ घर्षण (गरदन, पीठ और नितंबों पर), जिससे स्ताफिलोकोकों का प्रवेश सरल हो जाता है और साथ ही साप्रोफीत [साप्रोफीत (ग्री 'साप्रोस'—शव-गलन; 'फीतोन'—उद्भिज, वनस्पति, पादप, अत हिंदी में—कुणपतृण) कुणप—शरीर में मत कोशिकाओ आदि से अपना पोषण करने वाले वनस्पति हैं।—अनु.] गदजनक रूप ग्रहण करने लगते है, नखून से खरोचे (दिनाइ, नार्वचर्मशोथ व खाज में), मोसमी परिस्थितिया। वृत्ति तथा घरेलू घटको में से उन बातों पर ध्यान देना चाहिए, जो अनेक लोगो मे फुंसी-विकास की सभावना बनाती हैं। महत्त्वपूर्ण अतर्जनित घटक निम्न हैं—शरीर का दुर्बल होना, शरीर में द्रव्य-विनिमय की गडबडिया (मधुमेह, मोटापा या मेदुरता), जठरात्र-रोग, अल्परक्तता, अविटामिनता, नार्विक एवं अंतस्रावी तंत्रों के रोग, अल्कोहलता, शरीर का नियमित अतिशीतन या अतितापन आदि, जो शरीर की सामान्य इमूनोजीवलोचनी प्रतिकारिता को क्षीण कर देते है। फुसियां अधिकाशतः बसंत और शरद ऋतु में होती है। यह रोग बच्चो की अपेक्षा बडो मे और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक अवलोकित होता है।

अकेली फुसी (एक ही फुसी जो कई महीनो के बाद पुन उत्पन्न हो जाती

है), पुनरावर्ती अकेली फुसी (जो कुछेक दिनो या सप्ताहों जैसी छोटी अवधियो पर पुनरावर्तित होती है) और फुसीक्लेश (एक के वाद एक फुंसियो की उत्पत्ति) मे भेद किया जाता है। निदान निर्धारित करने मे डॉक्टर को तल्पिक विशेषताओ (जैसे फुसी विद्रधि में विकसित हुई है या लसग्रथिशोथ से क्लिप्ट है) तथा रोग-प्रक्रिया के स्थान (ऊपरी होठ, वाह्य कर्ण-छिद्र) आदि को भी ध्यान मे रखना चाहिए।

रोग का तल्पिक चित्र और प्रवाह—फुसी के विकास मे तीन चरण आते है—(1) अतर्स्यंद का विकास; (2) पूयन और विमरण (विमृति), (3) निरोगन।

पहले लोम-मशिका के गिर्द उभरा हुआ कडा चमकदार लाल अतर्स्यद बन जाता है। अतर्स्यद की सीमा स्पष्ट नही होती और उसमे चुभन या हल्की पीडा की अनुभूति होती है। धीरे-धीरे अतर्स्यद एक दृढ गुल्म मे परिणत हो जाता है ओर उसकी पर्याकृति वढने लगती है; इर्द-गिर्द के ऊतकों मे शोफ होता है (गाल, पलको और होठों के क्षेत्र मे शोफ बहुत स्पष्ट हो सकता है)। तीसरे या चौथे दिन दूसरा चरण आरभ होता है—फुंसी का व्यास 1-3 सेंटीमीटर हो जाता है ओर इसकी सतह पर केंद्र में पूयमृतिक क्रोड (हीर) से युक्त पीपिका वन जाती है। फुसी एक शंकुल गुल्म का रूप ग्रहण कर लेती है, उसकी त्वचा चिकनी ओर चमकदार नीली हो जाती है। इस अवधि मे पीडा बहुत तीव्र हो जाती है, शरीर का तापक्रम 37-38°C तक उठ आता है, गरलक्लेश के लक्षण (सामान्य अस्वस्थता, सिरदर्द आदि) उत्पन्न हो सकते है। पीपिका की चोटी पर मुह खुद-ब-खुद खुल जाता है (या कृत्रिम रूप से खोला जाता है)। फुसी से पीप निकलती है, जो कभी-कभी रक्त-मिश्रित होती है। इसके बाद एक पीताभ हरा विमृतिक क्रोड निकलता है। क्रोड से निकलने (या उसे निकालने) के बाद शोफ, अतर्स्यदन और पीडा दब जाती है, जो दो या तीन दिनो मे दाग के रूप में परिणत हो जाता है। दाग शुरू मे नीला-लाल होता है, जो धीरे-धीरे सफेद होता हुआ लगभग अदृश्य हो जाता है। फुसी का विकास-चक्र सामान्यत आठ से दस दिनो तक चलता है।

प्रक्रिया के अवतल्पिक प्रवाह में एक पीडाजनक अतर्स्यद बनता है, पर पूयन या विमरण नही होता। छोटी फुंसी को मशिकाशोथ में नन्हे केंद्रीय विमृतिक क्रोड द्वारा उत्पन्न क्षति से भिन्न समझना चाहिए। अन्य रोगो अथवा गलत चिकित्सा से दुर्बल रोगियों में फुसी विद्रधि मे परिणत हो जाती है।

फुंसी हथेलियों और तलवों की लोमविहीन त्वचा को छोड़कर चर्म के किसी भी क्षेत्र मे बन सकती है। अकेली फुसी अधिकांशतः सिर के पिछले भाग मे, प्रबाहु, पीठ, पेट, नितब और निचले अगो (पैरो) पर होती है। बाह्य कर्णकुहर के किनारे फुंसी से तीव्र पीडा होती है। ऊपरी होठ पर फुंसी एक खतरनाक रोग है, क्योकि इससे लसकुभियो और शिराओ के स्कंदक्लेश के साथ-साथ प्रमस्तिष्क-कुभियो

मे सृपक शिराशोथ और सामान्य (सर्वागीण) सृपन हो जा सकता है जब गरदन वक्ष और जांघ मे फुंसिया लसपर्वो के बहुत निकट होती है तो लसवाहिनियो और लसग्रंथियो का तीव्र शोथ विकसित हो जा सकता है। यकृत, वृक्क और अन्य आंतर अंगो की ओर भी (शोथ का) अपवहन सम्भव है। इन्ही क्लिष्टताओ के कारण फुंसिया कभी-कभी गंभीर रोग साबित होती है। हजामत के समय फुंसी के कटने या उसे दबाकर बहाने के प्रयत्न से तथा अपर्याप्त स्थानिक चिकित्सा से इन क्लिष्टताओ के और भी बढने का खतरा रहता है। चेहरे पर, नाक व होंठ के बीच त्रिभुजाकार स्थल पर और नाक के चर्म व श्लेष्मल झिल्ली पर फुंसिया भी क्लिष्टताओ के विकास को सप्रेरित करती है।

फुंसीक्लेश एक ऐसी अवस्था है, जिसमे बहुसख्य (यद्यपि हमेशा नही) और पुनरावर्ती फुंसीस्फोट उत्पन्न होते है। फुंसीक्लेश स्थानाबद्ध (परिसीमित चर्म-क्षेत्र पर), विसरित या प्रकीर्णित (बिखरा हुआ) हो सकता है। प्रवाह के अनुसार फुंसीक्लेश तीव्र (कई सप्ताह से लेकर एक-दो महीने की अवधि अनेक फुंसियो की उत्पत्ति द्वारा लछित) या चिरकालिक (छोटी अवधि या लगातार महीनो तक कम सख्या मे फुंसियो की उत्पत्ति द्वारा लछित) हो सकता है।

लछक (विशिष्टता-युक्त) केसो मे निदान सरल होता है। अन्य स्थितियो मे इसका सिबीरी (साइबेरियन) व्रण, स्वेदग्रथिशोथ और गह[illegible] ग्णत्व के साथ अतर दिखाना पडता है। आथ्राक्स (सिबीरी व्रण) पिटक-वस्तिकोय क्षति के साथ होता है और उस पर भूरी-काली खठूटी पड़ जाती है; इसके अतिरिक्त सुचर्म तथा अवचर्म में भी स्पष्ट अतर्स्यदन हो जाता है, तीव्र पीडा और सामान्य अवस्था मे कई गड़बडिया उत्पन्न होती है। स्वेदग्रथिशोथ मे अपस्रावी ग्रथियो का (काख, जघामूलीय सलवट, चुचुकों और पृष्ठद्वार में) पूयिक शोथ होता है, केंद्रीय विमृतिक क्रोड नहीं होता। लोमतृण (त्रीखोफीटोन) से उत्पन्न कणार्ब अक्सर शिरोवल्क तथा दाढी के क्षेत्रो पर उत्पन्न होता है। रोगवृत्त (जंतु से स्पर्शात्मक संपर्क), तीव्र पीडा और पूयमृतिक क्रोड की अनुपस्थिति और गदलोचनी द्रव्य के सूक्ष्मदर्शन से कवको का अनुवेदन—ये सब निदान के लिये महत्त्वपूर्ण होते है। कुछ केसो मे फुंसीक्लेश को पार्विक ललामी, कठललामी और कंठमालचर्मता से भी इतिरित करना पडता है।

ऊतगदालोचन पूयिक शोथ लोम-मशिका, स्वेद-ग्रथि तथा चारो ओर के योजक ऊतको को पूरी तरह ग्रस्त कर लेता है (परिमशिकीय अतर्स्यद के साथ गहरा मशिकाशोथ)। शुरू-शुरू ऊतगदलोचनी चित्र आस्यक मशिकाशोथ जैसा होता है, लेकिन बाद मे सपूर्ण वपा-लोमीय उपकरण तथा पडोसी ऊतकों का विमरण पाया जाता है. परिसर मे श्वेतकोशिकीय अतर्स्यदो की बहुलता होती है।

चारो तरफ के योजक ऊतक मे अक्सर विस्फारित रक्तकुभिया और कोलाजनो का स्पष्ट शोफ अवलोकिन होता है। पैठन के अड्डे मे प्रत्यास्थ एव कोलाजनी ततु (रेशे) पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। विमृतिक अड्डे के परिसर में एक मजबूत रजतप्रेमी-जालिका बन जाती है। ततुओ के कोलाजनी बडलो का एक मोटा वलय पैठन के अड्डे को घेर लेता है, ताकि रोगाणु वहा से निकलकर अन्यत्र न फैले (इसीलिये फुसी को दबाकर बहाने के प्रयत्न से वलय के टूटने का खतरा रहता हे, जिसके फलस्वरूप रोगाणु अन्यत्र भी फैल सकते है)।

चिकित्सा—फुसी की चिकित्सा बहुत हद तक गदलोचनी प्रक्रिया के प्रकार एव प्रसार पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, यदि फुंसी अकेली है और उसके साथ कोई क्लिष्टता उत्पन्न नही हुई है, तो सिर्फ बाह्य थेरापी प्रलिखित की जाती हे (विशेपकर जब रोगी आयुरी सलाह लेने में विलब नही करता, रोग के आरम्भिक चरण पर ही डॉक्टर से मिल लेता है)। पुनगवर्ती एव क्लिष्ट फुसियो मे, खतरनाक स्थल पर उत्पन्न फुसियो में, फुसीक्लेश मे (विशेषकर चिरकालिक एवं बिखरे हुए फुसीक्लेश मे) बाह्य थेरापी के अतिरिक्त ऐसे सामान्य उपाय भी किये जाते हैं, जो जीवाणुक वनस्पतियो पर अभिक्रिया करते है, शरीर की रक्षी प्रतिकारी शक्तियो को स्फूर्त करते हैं और रोगी के परीक्षण के समय पाये गये अन्य **अंतर्पेशीय** रोगो को ठीक करते है।

प्रतिजीवको का विस्तृत उपयोग होता है। पेनीसिलिन अंतर्पेशीय सुई से 50000-100000U की खुराके प्रति तीन या चार घंटे पर दी जाती है, तीव्र रूप मे कुल मात्रा 1000000-3000000U तक दी जाती है और चिरकालिक रूपो मे 500000-10000000U या इससे भी अधिक। अनावासी तल्पालय के रोगी की चिकित्सा एक्मोनोवोसिलिन (बेजिलपेनीसिलिन प्रोकेन व एक्मोलिन—त्रिप्रोटामीन सल्फेट के घोल—के मिश्रण) और बीसिलिनों (बेंजाथीन पेनीसिलिन) से की जाती है, जो पेनीसिलिन से चिरकारी प्रसाधन हैं। इनमें से पहली दवा की सुई दिन मे एक बार 600000U की मात्रा मे दी जाती है, दूसरी दवा तीन या चार दिन मे एक बार 1200000-1500000U की मात्रा मे दी जाती है (पूरी चिकित्सा के दौरान 3000000 से 8000000U दी जाती है)।

आजकल पेनीसिलिन और इसके व्युत्पादो के विरुद्ध कोकी उद्‌भिजो (विशेपकर स्ताफिलोकोको) की प्रतिरोधिता अवलोकित हो रही है। इसीलिये फुंसीक्लेश की चिकित्सा मे अधिकाधिक महत्त्व विस्तृत स्पेक्ट्रम (परास) वाली दवाओ को दिया जा रहा है, जो प्रतिजीवाणुक प्रभाव डालती है, जैसे—माक्रोलिड—एरीथ्रोमीसिन तथा ओलेआडोमीसिन और तेत्रासिक्लीन के साथ इनके मेल—ओलेतेत्रिन, सिग्मामीसिन और तेत्राओलेआन। प्रतिजीवको के प्रति रोगकारी जीवाणुओ की

सवेदिता का द्रुत जाच जसे प्रातजीवलख) की सहायता से किसी भी रोगी के लिये आवश्यक प्रतिजीवक ज्ञात किया जा सकता है; इन परीक्षणा के परिणाम 12 से 24 घटे मे प्राप्त हो जात हैं।

कतिपय चर्मपूयताओं और विशेषकर चिरकालिक फुसीक्लेश की चिकित्सा मे अर्धकृत्रिम पेनीसिलिनों का अब अधिकाधिक विस्तृत उपयोग हो रहा है। ये है—मेथीसिलिन (1 0g की अतर्पेशीय सुई प्रत्येक चार से छ. घटे पर), और ओक्सासिलिन (0 25-0 5g की टिकियो या कैप्सूलो के रूप मे प्रत्येक छः घंटे पर, पाच दिनो तक; अतर्पेशीय सुई द्वारा 0 25-0 5g की मात्रा दिन मे दो मे चार बार)। प्रतिजीवको के साथ मुखमार्ग मे प्रतिहिस्टामीनिक साधन देना वाछनीय है।

सुल्फोनामीड (सुल्फाथिआजोल, सुल्फादीमीदीन, सुल्फामेथोक्सीन, सुल्फामेथोक्सी-पीरीदाजीन) तथा अन्य प्रतिजीवाणुक प्रसाधन उनकी सामान्य अभिक्रिया के अनुसार प्रयुक्त किये जाते है। नित्रोफुरान के व्युत्पाद—फूराजोलीदोन फूराजोलिन, फूरादोनिन (नित्रोफूराटोइन) और फूरागिन (फूराजिन) पिछले समय से उन स्थितियो मे प्रतिलिखित किये जाने लगे है, जब स्ताफिलोचर्मता प्रतिजीवको ओर सुल्फोनामीदों का प्रतिरोध करने लगती है। ये मुखमार्ग से 0.1g की टिकियो मे दिन में दो या चार बार खाने के बाद दिये जाते है (चिकित्साकाल पांच-सात-दस दिन हो सकता है)। 12 महीने तक के पयोपा बच्चे के लिये फूराजोलिन की एक खुराक 0.01-0.015g है, 1 से 2 वर्ष तक के बच्चे के लिये 0.02g, 2 से 5 वष तक के बच्चे के लिये 0.03-0.04g और 5 से 14 वर्ष तक के लिये 0 05g, यह दिन मे तीन या चार बार, खाने के 15 से 20 मिनट बाद दिया जाता है।

अकेली पुनरावर्ती फुसियों तथा चिरकालिक फुसीक्लेश मे पैटन को नियत्रित करने के साथ-साथ शरीर की प्रतिकारी शक्ति बढ़ाने के लिये अविशिष्ट स्फूर्तिदायक थेरापी (स्वरक्त-चिकित्सा) और स्ताफिलोकोक का टीका (बहुसयोजी या स्वटीका) स्ताफिलोकोकी तोक्सोइद तथा एटीफागिन से विशिष्ट इमूनी चिकित्सा (इमूनोथेरापी) की जाती है। कुटाली (जो टाले नहीं टले) या चिरस्थायी फुसीक्लेश में गामा ग्लोबूलिन का उपयोग होता है।

मेदुरता, मधुमेह, आत्र-शैथिल्य, आतर अगो के रोगो, अल्परक्तता आदि की चिकित्सा चिरकालिक फुसीक्लेश से पीड़ित व्यक्तियो के उपचार-सकुल का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। ऐसे रोगियो का आहार सुपाच्य होना चाहिए, चटपटा व मसालेदार नही होना चाहिए। अल्कोहलिक पेय वर्जित है। विटामिन 'ए', 'सी' ओर 'बी-संकुल' के साथ-साथ लोहा तथा फोस्फोरस के प्रसाधन (फीलोफेरोलाक्तोल, 15 से 20 दिनो तक एक-एक गोली दिन मे तीन बार) वांछनीय है।

फुंसी के गिर्द त्वचा को सैलीसीलिक अल्कोहल कैंफर स्पीरिट इथर बेजीन

या वोदका से निष्पैठित किया जाता है। फुसी और इसके गिर्द पडोसी क्षेत्र मे वाल काट दिये जाते है (मोडे नही जाते !), ताकि मशिकाशोथ तथा नयी फुंसियो का विकास रोका जा सके। यह काम ग्रस्त क्षेत्र के मध्य से परिसर की दिशा मे किया जाना है। इसके बाद वालों को फुसी में से निष्कीटित चिमटो द्वारा निकाल लिया जाता है और शुद्ध इख्थ्यामोल लगाकर निष्कीटित रूई की पतली परत से ढक दिया जाता है। इख्थ्यामोल में वैक्टेरियानाशक, केराटोप्लास्टिक (शृंगीगटक), स्थानिक वेदनाहारी तथा प्रतिशोथी गुण होते है। इख्थ्यामोल का एक 'केक' (चपटा टुकड़ा) दिन मे एक या दो बार लगाया जाता है। पहले से लगे इख्थ्यामोल को गुनगुने पानी से दूर किया जाता है, पट्टी की आवश्यकता नही होती। यदि फुसी का मुह नही खुला है, तो ऐसी चिकित्सा से गदलोचनी प्रक्रिया का विकास कभी-कभी आगे नही बढ पाता। फुसी का मुह खोलने के बाद ड्रेसिंग (मरहम-पट्टी) की जाती है—व्रण पर अतितानी नमकीन घोल की पट्टी रखी जाती है और उसके परिसर मे शुद्ध इख्थ्यामोल लेपा जाता है। कभी-कभी फुंसी पर पारद-प्लास्टर (मर्करी-प्लास्टर) लगाया जाता है, फुसी का मुह खुलने पर मलहम लगाया जाता है—5 प्रतिशत कैफर-इख्थ्यामोल का मलहम, विश्नेव्स्की का मलहम (3 भाग टार, 3 भाग क्सेरोफोर्म, 94 भाग अडी का तेल); 2 प्रतिशत अमोनीकृत पारे का, 10 प्रतिशत इख्थ्यामोल का, 1-2 प्रतिशत पीले पारद आक्साइड का, 5 प्रतिशत ख्लोरोतेत्रासिक्लीन या एरीथ्रोमीसिन का, या डीबिओमीसिन का मलहम। शुष्क ताप (हीटर, सोलुक्स, मीनिन का परावर्तन) या परा-उच्चावृत्तिक विद्युचुबकीय क्षेत्र के प्रति अनावरण वाछनीय है। आर्द्र ताप (गीली पुल्टिस) और जल-क्रिया रोगकाल मे वर्जित है। फुसी के विद्रधि में परिणत होने पर करोर्जन और तीव्र प्रतिजीवकथेरापी का उपयोग (इमूनी चिकित्सा के साथ) वाछनीय है; इमूनी चिकित्सा—अति-इमूनी गामा ग्लोबूलिन, अति-इमूनी एटीस्ताफिलोकोकी प्लाज्मा, स्ताफिलोकोकी तोक्सोइड।

भविष्य—एकल (अकेली) फुसियो की स्थिति मे (यदि वे चेहरे पर नही हें) भविष्य हमेशा अनुकूल होता है। चिरकालिक फुसीक्लेश की स्थिति में (विशेषकर प्रोढ या अधेड़ व्यक्तियो मे, दुर्बल रोगियो मे, मधुमेह से पीडित लोगो मे), क्लिष्ट फुसियो तथा सूपन की स्थितियों में भविष्य गभीर चिंताजनक हो जाता है।

कोलफुंसी

कोलफुसी सुचर्म एव अवचर्म की गहरी परतों तक विसरित पूयमृतिक शोथ की प्रक्रिया है, जिसकी चपेट मे पास-पडोस की लोम-मशिकाए भी आ जाती है। फुसी से इसकी भिन्नता इस बात मे है कि इसमे पूयमृतिक अतर्स्यद अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते है और सुचर्म एव अवचर्म को बेधते हुए उनकी गहरी

परतो तक विसरित हो जाते ह

इस क्षति का नाम काबुकुल या कोलफुसी ह (लातीनी कार्बो –कोयला, चारकोल), क्योंकि पूयमृतिक शोथ के दरम्यान बना हुआ विमृत क्षेत्र अलकतरे की तरह काला होता है।

इसके प्रिय स्थल है--पश्च कपाल, पीठ और कमर।

निमित्त कारण अधिकाशत सुनहरे स्ताफिलोकोक है; स्ताफिलोकोक की अन्य जातियो से यह कम ही उत्पन्न होता है।

गदजनन को प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न है–दुर्वलता (चिरकालिक कुपोपण अथवा किसी तीव्र कायिक रोग से), द्रव्य-विनिमय की गडवडी (विशेषकर कार्वोहाइड्रेट के विनिमय मे गडबडी, जैसे मधुमेह मे)।

तल्पिक चित्र और रोग-प्रवाह--शुरू-शुरू में चर्म मे चंद अलग-थलग कठोर पविकाए अवलोकित होती है, जो मिलकर एकीकृत अतर्स्यद बना लेती है। यह अंतर्स्यंद वढता है, कभी-कभी तो बच्चे की हथेली के बराबर भी हो जाता है। इसकी सतह अर्धवर्तुली हो जाती है, त्वचा तन जाती है और मध्य मे नीलाभ हो जाती है। स्थानिक कोमलता अवलोकित होती है। यह अतर्स्यंद के विकास का प्रथम चरण है, जिसमे 8 से 12 दिन लगते है। इसके वाद अतर्स्यदन-क्षेत्र मे चद पी॰॰॰॰ाएं बनती हैं, जिनके मुंह खुल जाते हैं। कई खुले मुहो के कारण कोलफुसी मो॰॰ छेद वाली चलनी (या छनौटे) की तरह दिखने लगती है। इन मुहानो से रक्त-मिश्रित पूय और हरा विमृतिक द्रव्य स्रावित होते है। कोलफुंसी के मध्य मे विमृत क्षेत्र का आकार निरतर बढता जाता है। द्रव्यो के बाहर निकलने से ऊतको मे एक विस्तृत क्षति (एक व्रण) उत्पन्न हो जाती है, जो पेशियों तक पहुच जाती है। यह दूसरा चरण, पूयन और विमरण का चरण, 14 से 20 दिनो तक चलता हे। इसके बाद व्रण कणमय ऊतको से भर जाता है और नीचे के ऊतकों के साथ सगलित एक गहरा और रूखडा दाग बन जाता है। बडे दाग कोलफुंसी के ऑपरेशन से भी रह जाते है।

कोलफुसी अक्सर एकल क्षति के रूप मे उत्पन्न होती है। इसके विकास के साथ-साथ तेज बुखार आता है, टभकने की मर्मभेदी पीडा होती है, ठड लगती है, चित्त अवसन्न रहता हे। वुढापे मे, तीव्र पारमेह के कृश रोगी मे और नार्विक-मानसिक अतितनाव की स्थिति मे कोलफुंसी का प्रवाह दुर्दम रूप धारण कर सकता है। ऐसी स्थितिया नर्वशूलिक वेदना, विक्षिप्ति या गहन अवलुठन तथा सूपनजनित ज्वर से लछित होती है। वडी कुभी से अत्यधिक रक्तस्राव या सूपन के कारण मृत्यु भी हो सकती है। जव कोलफुसी ना॰॰ ॰॰ ऊपरी होंठ के क्षेत्र मे स्थित होती है, तो तीव्र छादिकीय क्लिष्टता उत्पन्न हो॰ खतरा रहता है।

निदान कठिन नही है। आंथ्राक्स कोलफुसी को भी ध्यान म रखना चाहिए जो कोलफुसी के ही सदृश होती है, लेकिन उसमे ऊतक का शोफ अधिक स्पष्ट एव वर्धित होता है, पीपिका मे कोयले (आंथ्रासीत) से मिलती-जुलती काली खठठी पड जाती है (इसीलिये नाम पडा है--आंथ्राक्स), और इसका निमित्त कारण भी अलग होता है—अगरविक ग्राम-पोजीटिव आंथ्राक्स वासिल। फुसी और कोलफुसी मे भेद करना आसान है, इसके लिये ऊपर वर्णित तल्पिक चित्र को ध्यान मे रखना पर्याप्त है।

ऊतगदलोचन—सुचर्म और अवचर्म के निचले भागो की गहरी विमृति देखी जाती है। विमृति (विमरण) धीरे-धीरे परिसर की ओर फैलने लगती है। पैठन के ये अड्डे न्युट्रोफिलों के मोटे अतर्स्यद मे होते है।

चिकित्सा—कोलफुसी की चिकित्सा मे सदा सामान्य युक्तियो को भी शामिल किया जाता है और वह फुसी की चिकित्सा से वहुत भिन्न नही होती। तीव्र स्थितियो में प्रतिजीवक के साथ सुल्फोनामीद दिये जाते है। रश्मि-चिकित्सा (रेडियो-चिकित्सा) भी इस रोग मे लाभ पहुचाती है। कोलफुसी यदि तेजी से बढ रही हो तो उस पर गुणा की आकृति का चीरा लगाकर विमृत क्षेत्र को बाहर कर देना सुसकेतित है। यह काम नियमतः करोर्जक करते हैं। साथ-साथ प्रतिजीवक-चिकित्सा भी चलती है (500000U स्त्रेप्तोमीसिन की सुई दिन मे दो बार, साथ-साथ प्रतिदिन 1000000U पेनीसीलिन की सुई या इसके समतुल्य अन्य दवाओं की सुइया)। कोलफुंसी के गिर्द त्वचा को 2 प्रतिशत कैफर स्पीरिट या सैलीसीलिक अम्ल से दिन मे दो बार अनिवार्य रूप से निष्पैठित किया जाता है, सभी खरोंचो और निस्त्वचन पर कास्तेलानी के पेट का अथवा आयोडीन के अल्कोहलिक घोल का लेप लगाया जाता है।

भविष्यवाणी—भविष्यवाणी रोगी की सामान्य अवस्था पर निर्भर करती है।

स्वेदग्रंथिशोथ

यह काख (अक्सर एकतरफा) या जंघामूलीय चर्म-मोड पर स्थित अपस्रावी स्वेदग्रथियो का पूयिक शोथ है। कभी-कभी यह चुचुको, वृहत भगोष्ठो, फोता, पृष्ठद्वार आदि के भी क्षेत्रो मे होता है।

हेतुलोचन—इसका सामान्यतम निमित्त कारण सुनहरे स्ताफिलोकोक हैं, जो लोम-मशिकाओं के मुहाने से होकर अपस्रावी ग्रथियो की अपवाही नलियो मे प्रविष्ट हो जाते है।

गदजनन—इस रोग के प्रवणकारी घटक निम्न है—शरीर की सामान्य दुर्बलता अतिस्वेदन काख जघामूली तहों तथा पृष्ठद्वार पर क्षारीय प्रतिक्रिया

वाला स्वद (विशेषकर उन लोगो मे जिन्हे सफाइ की आदत नही होती मसृणन सूक्ष्म घाव हजामत के समय कटना नार्विक एव अतस्रावी गडबडियों पारमेह जनन-ग्रंथि की गड़बड़ी) वाले लोगो मे कडुक चर्मक्लेश के स्थलों पर खरोंचे (नोचने से) तथा स्थानिक प्रतिरोध में कमी। स्वेदक अपवाही ग्रथिया सिर्फ योनपरिपक्वता-काल मे विकसित होती है (लडकियों मे लडको की अपेक्षा कुछ पहले)। स्त्रियों मे उनकी सख्या पुरुषो से अधिक होती है, स्त्रियो में यह रोग अवलोकित भी अधिक होता है। बुढापे मे इन ग्रथियो की क्रियाशीलता निर्वाप्त हो जाती है (बुझ जाती है), इसीलिये बुढ़ापे मे यह रोग नहीं होता।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—शुरू-शुरू सुचर्म और अवचर्म की गहराइयो मे टीले जैसे अलग-थलग पर्व (गाठ) परिस्पर्शित होते है। रोगी को हल्की खुजली या पीड़ा महसूस होती है। पर्व आकार मे शीघ्र बडे होते है, चर्म से चिपक जाते है (नीचे से) और नाशपाती की आकृति ग्रहण कर लेते है, उनका ऊपरी उभार 'कुतिया के थन' की तरह चुचुकाकार होता है। त्वचा नीली-लाल हो जाती है, ऊतक मे शोफ बढ जाता है, पीडा भी साथ-साथ बढती है। असंपृक्त (एक-दूसरे से पृथक्) पर्व अक्सर सलीन हो जाते हैं, उनमे मुलायमियत आ जाती है, फिर सिहरन उत्पन्न होती है, जिसके बाद उनका मुह अपने-आप खुल जाता है और उनमें से रक्त-मिश्रित गाढा पूय स्रावित होता है। विमृतिक क्रोड नही बनता। कभी-कभी फ्लेग्मोन (दाहक फोड़ा) से मिलता-जुलता एक चकतीनुमा विसरित अतर्स्यद बन जाता है; इस स्थिति मे पीडा सिर्फ चलने-फिरने मे ही नही, विश्राम के वक्त भी होती है, रोगी अशक्त हो जाता है। क्षति की परिपक्वता के साथ-साथ अस्वस्थता बढती है, तापक्रम कुछ ऊंचा हो जाता है, पीडा तेज होती है। गाठ (पर्व) का मुह खुलने पर उसमे तनाव और पीडा की अनुभूति कम हो जाती है, व्रण कुछ दिनो मे ठीक हो जाता है (अतर्स्यद को विलीन होने मे कुछ अधिक समय लगता है)। पुनरावर्तन अक्सर होता रहता है और इससे प्रक्रिया का प्रवाह विलंबित हो जाता है। काक्षिक (कांख का) स्वेदग्रंथिशोथ एक तरफ होता है, पर दोतरफा क्षतियां भी देखने को मिलती है। स्वेदग्रथिशोथ औसतन 10 से 15 दिनो मे समाप्त हो जाता है, लेकिन विलंबित प्रवाह भी बहुत अक्सर अवलोकित होता है (विशेषकर अतिस्वेद तथा पारमेह के रोगियो मे और उन व्यक्तियो मे, जो त्वचा की सफाई पर ध्यान कम देते हैं)।

ऊतगदलोचन—प्रक्रिया सुचर्म और अवचार्म वसा की विभाजक सीमा-रेखा द्वारा स्थानाबद्ध होती है। अपवाही ग्रथि और उसके गिर्द स्थित योजक ऊतको को एक पूयिक अतर्स्यद आच्छादित कर लेता है, जिसमे शुरू-शुरू (आरंभिक चरण पर) मे मख्यत न्युट्रोफिल ही होते है पर बाद मे लसकोशिकाए और प्लाज्मा-कोशिकाए

भी शामिल होने लगती है। इसके बाद पैठन लसकुभियो के सहारे-सहारे फैलता हुआ अन्य अपस्रावी ग्रथियो तथा विस्रावी ग्रथियो तक पहुच जाता है और उनमे पूयिक सगलन उत्पन्न करके उन्हे मार देता है।

निदान--रोग की विशिष्ट स्थानावद्धता और उसके विशिष्ट तन्त्रिक चित्र के कारण निदान बहुत सरलता के साथ हो जाता है। विमूर्तिक क्रोड की अनुपस्थिति स्वेदग्रंथिशोथ को फुसी से विभेदित (इतरित) करती है। सगलक गठिक्लेश का प्रवाह अधिक विलबित होता है, लसपर्व उसकी चपेट मे शुरू से ही आ जाते है, इसके अतिरिक्त. इसमे पीडा नहीं होती, विस्तृत व्रणित क्षेत्र विकसित हो जाता है, अनेक नासूर हो जाते है, जो ठीक होने के बाद सेतुवत दाग छोड जाते है (नासूर--व्रण मे दूर गहराई तक गया हुआ नलीनुमा छेद, जिससे पीप बहकर निकलती है।--अनु.)।

चिकित्सा--आरभिक चरण पर ही क्षति का विकास रोकने के लिये परास्वनि, उच्चावृत्तिक विद्युत्धारा, पराबैगनी विकिरण, शुद्ध इख्थ्यामोल ('केक'), एक्स-किरणो के उपयोग की सलाह दी जाती है। एक्सरे-चिकित्सा आवश्यकतानुसार तीन-चार दिनो पर दोहरायी भी जा सकती है; इसकी खुराक बहुत कम होती है--50-80r (रेंटगेन), 1-2 मिलीमीटर मोटे अलुमिनियम के फ्लिटर (Al-फिल्टर) से [illegible]र, [illegible]-फोकस की दूरी 30-40 सेंटीमीटर, 120KV (किलोवोल्ट)। एक्स-रे-चि[illegible]सा उस स्थिति मे भी लाभकर होती है, जब रोग मे विलबित प्रवाह ग्रहण करने की प्रवृत्ति आने लगती है और उसका पुनरावर्तन होने लगता है। सपुजित (एक जगह जमा) विद्रधियो की स्थिति मे करोर्जन की सहायता ली जाती है। 0 5-1 0 प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल (8-10 मिलीलीटर) की सुई, पेनीसिलीन (300000-500000U) के साथ या तेत्रालेआन के जलीय घोल की सुई क्षति के गिर्द लगाने की सलाह दी जाती है, यदि अतर्स्यदन और पीडा अत्यधिक होती है। इससे पैठन की घेराबंदी हो जाती है, यह काम हर एक दिन बीच देकर करना चाहिए, चिकित्सा चार या पाच बार मे सपन्न हो जाती है। चिरकारी (चिरस्थायी) कुटाली तथा पुनरावर्ती स्वेदग्रथिरोग मे टीका से चिकित्सा एक विवेकसंगत उपाय है। अन्य बातों में इस रोग की चिकित्सा फुनी जैसी ही होती है। निरोध (रोग की रोकथाम) सफाई की सही आदतो से होता है (शरीर को अक्सर साबुन व स्पज से साफ करना), काख को सैलीसीलिक अल्कोहल या बोरो-कैफर स्पीरिट से निष्पैठित करना चाहिए।

अब हम उन स्ताफिलोचर्मताओं का वर्णन करेंगे, जो मुख्यत· नवजात एव पयोपा शिशुओ को होती है--वस्तिक पीपिका, पयोपा की बहुलित विद्रधि, नवजात शिशुओ मे बहुमारिक (एपीडेमी शब्द का ऐतिहासिक अर्थ है महामारी अर्थात

एमा रोग जिसमे पूरी की पूरी आबादी नष्ट हो जाया करती थी आयुर मे इसका नया अर्थ है किसी क्षेत्र विशेष मे किसी रोग का किसी खास प्रकार के लोगों के समूह पर एक ही समय आक्रमण; रोग का जानलेवा होना जरूरी नहीं है 'महामारी' मे इस अर्थ की भिन्नता दिखाने के लिए हिंदी आयुरी साहित्य मे 'जानपदिक रोग' का प्रयोग शुरू हुआ। इससे कुछ हद तक काम चलाया जा सकता है, लेकिन अन्य शब्द व्युत्पन्न नही किये जा सकते (एपीडेमिओलोजी ?)। 'बहुमारी' शब्द दोनों अर्थो में प्रयुक्त हो सकता है और यह अधिक व्युत्पादन क्षम है।—अनु.) बुदबुदिया, रिट्टर (Ritter) द्वारा निरूपित अपशल्की चर्मशोथ और नवजात शिशु की बुल्लेदार बुदबुदिया।

वस्तिक पीपिका

ये ऐसी क्षतिया है, जो सामान्यतः नवजात शिशु के जीवन में प्रथम दिनो होती है। यह अवस्था पिन के सिर से लेकर मटर के दाने के आकार तक की असख्य पीपिकाओं की उत्पत्ति द्वारा लछित होती है; इन पीपिकाओं में सफेद-पीला द्रव्य होता है और इनके परिसर में रक्तातिरेक और शोफ अवलोकित होता है।

हेतुलोचन रोग विभिन्न स्ताफिलोकोकी जातियो से उत्पन्न होता है।

गदजनन अतिस्वेदन से उत्पन्न मसृणन, अपरिपक्वता, दुर्बलता और कृत्रिम पोषण—ये सभी संप्रेरक घटक हैं।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—पैठन स्वेद-ग्रथियो के मुहाने मे शुरू होता है, जहां एक चमकदार अतिरक्तिल सीमा से घिरी नन्ही अ-संस्रावी पीपिकाए बनती है। जंघामूल और काख पर त्वचा की सलवटे, शिरोवल्क और धड़ की त्वचा इस रोग के प्रिय स्थल है। कमजोर बच्चो मे काफी विस्तृत क्षेत्र रोग-प्रक्रिया की चपेट मे आ जाते हैं, जो सलीन होने (आपस में मिलने) की प्रवृत्ति रखते है, क्षति काफी गहराई तक पहुंच जाती है।

निदान—अक्सर निदान में कोई खास कठिनाई नहीं होती। पूयचर्मता से क्लिष्ट खाज मे वस्तिक पीपिकाए हथेलियो, तलवो, नितबो, पेट, नाभि के गिर्द तथा हाथो की ऋजुकारी (मुडे हाथ को सीधा करने वाली) पेशी की सतह पर जोड़ियों मे उत्पन्न होती है। जोड़ियो मे बनी वस्तिक पीपिकाओं के बीच बिलो मे खाज उत्पन्न करने वाली कुटलियो का पता लग जाने पर निदान सरल हो जाता है।

चिकित्सा और निरोध—रोग-काल मे बच्चे को धोना या नहलाना अवाछनीय है। त्वचा के स्वस्थ क्षेत्रो पर कोई हल्का निष्पैठक घोल लेपना चाहिए। स्वेद कम करने का उपाय करना चाहिए। ग्रस्त क्षेत्रो पर अनीलीन रजको का जलीय व अल्कोहलिक घोल लगाना चाहिए।

पयोपा शिशु मे बहुलित विद्रधि

पयोपा तथा छोटे वच्चों में यह रोग तव होता है, जब पैठन अपवाही मार्ग तथा अपस्रावी स्वेद ग्रथियो की गुच्छिकाओ मे पहुच जाता है।

हेतुलोचन—सुनहरे स्ताफिलोकोक इस रोग के निमित्त कारण माने जाते ह, लेकिन अन्य जीवाणु भी सभव है—रक्तलयकारी स्ट्रेप्तोकोक ,जतमचजवबवबबवने ीमउवसलजपबनेद्धए आत्र-एशेरीखिया ,म्वीमतपबीपं ववसपद्धए सामान्य प्रेतेउस ,व्तवजमने अनसहतपेद्ध आदि।

गदजनन—गादिक अवस्था के विकास को सुगम करने मे निम्न घटकों का योगदान हो सकता है—वच्चे की सफाई मे कमी, अतितापन (काफी गर्म कपडे पहनाने से), भीगे कपडों को लंबे समय तक नही बदलना, अतिस्वेदन (जिससे चर्म बहुत मुलायम व नम हो जाता है), आतरिक कुपोषण, अपर्याप्त आहार, गलत आहार, आत्रशोथ, सामान्य पैठन आदि। यह रोग अधिकांशत· अपरिपक्व नवजात शिशु मे पाया जाता है, या ऐसे बच्चे में, जिनका शारीरिक प्रतिरोध कम होता है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—यदि स्वेद-ग्रथि के अपवाही मार्ग का सिर्फ मुहाना पैठनग्रस्त होता है, तो छोटी (वाजरे के दाने के बरावर) सतही पीपिका (परिरध्रशोथ) बनती है, जो थोड़े ही समय मे सूखकर खट्टी वना लेती है और बिना कोई निशान छोड़े ठीक हो जाती है। लेकिन सामान्यतः पूरा अपवाही मार्ग ओर स्वेद-ग्रंथि का ऊपरी भाग पैठन-ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थितियो में अनेक कठोर लाल-नीचे पर्व विकसित हो जाते है, उनकी पारस्परिक सीमा-रेखाए स्पष्ट होती है। वे पहले मटर के दाने के बराबर होते है, फिर तेजी से वढकर वेर का आकार ग्रहण कर लेते है। पर्वो के केंद्र जल्द ही मुलायम हो जाते है, वहा चर्म पतला होता है और उसमे द्रव का जमाव परिस्पर्शित होता है। इसके बाद उनके मुह खुल जाते है और रक्त-मिश्रित पतला पूय निकलता है। प्रक्रिया खत्म होने पर दाग रह जाता है। बहुलित विद्रधिया सामान्यत उन स्थलो पर होती है, जहा शरीर विस्तर को स्पर्श करता है (सिर का पिछला भाग, पीठ नितंब, जांघे)। जब कई दर्जन पर्व (गाठे) बन चुकते है, तव प्रक्रिया वक्ष और पेट की त्वचा तक फैल सकती है। शिशु की सामान्य अवस्था अधिकाश स्थितियों मे संतोषजनक ही रहती है, शरीर का तापक्रम विरले ही ऊचा उठना है। दुर्बल पयोपा वच्चो मे क्लिष्टताओ के उत्पन्न होने का खतरा रहता है, जैसे फ्लेग्मोन, मध्य कर्ण का शोथ, यकृत और प्लीहा की क्षति और यहां तक कि घातक सृपन भी शुरू हो सकता है। इन स्थितियो मे स्फोट बारी-बारी से कभी यहा, तो कभी वहा उत्पन्न होते रहते है, बुखार और श्वेतकोशिकाक्लेश होते हैं, ESR वढ जाता है, व्रण लबे समय तक ठीक नहीं होते।

निर्मित स्वद-ग्रंथियों के अपवाही मार्ग में होती है और सचम तथा अवत्रम तक फल जाती है स्ताफिलोकाक और अन्य रोगकारी जीवाणुओं के बड़े-बड़े जमघट स्वेदमार्ग (नली) के भीतर बन जाते है।

निदान—निदान पयोपा बच्चो मे गाठों (पर्वो) क भीतर विना तीव्र शोथ के द्रव की उपस्थिति के अनुवेदन पर आधारित होता है। इस उम्र मे फुसीक्लेश विरला ही होता है और यदि होता भी है, तो वहुत अल्प क्षतियां, तीव्र शोथ के लक्षणों और विमृतिक क्रोड के साथ ही होता है। परिरध्रशोथ को मशिकाशोथ स इतरित करना चाहिए, जिसमे क्षति सदैव लोम-मशिका और लोम-डठल से सबधित होती है; लोम-डंठल पीपिका के केंद्र मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, फुसी की तरह मशिकाशोथ भी अधिक उम्र के ही बच्चो मे होता है। पयोपा बच्चे मे वहुलित विद्रधि का आरंभ कुछ हद तक पिटकमृतिक गठिक्लेश के आरभिक चरण से मिलता-जुलता हो सकता है, जब क्षतिया शिरोवल्क तथा धड की त्वचा तक ही सीमित रहती हैं और पनीर जैसी विमृति विकसित नही हुई रहती है। अन्य अगो मे गठिक्लेश की अभिव्यक्तियो तथा पिर्के (pirquet) की प्रतिक्रिया के परिणामो को भी ध्यान में रखना पडता है। कभी-कभी इस रोग को कठमालचर्मता से भी इतरित करना पड़ता है, जो अक्सर अलग-थलग क्षतियो के रूप मे उत्पन्न होती है। कठमालचर्मता में क्षति का मध्य भाग जल्द ही गलकर खुल जाता है और अत्यल्प सीरमी स्राव वाले व्रण में परिणत हो जाता है, जिसमे कणीकरण बहुत मंद गति से होता है।

चिकित्सा और निरोध—निरोध विशेष महत्त्वपूर्ण है—बच्चे की देख-भाल मे सफाई, समय पर नहलाने, पोतडो और अन्य वस्त्रों को बदलने आदि के काम को प्राथमिकता देनी चाहिए। हाइजिनिक पाउडर, युक्तिसगत आहार, अतितापन से रक्षा आदि भी आवश्यक उपाय हैं।

विद्रधि पर शुद्ध इख्थ्यामोल ('केक' के रूप में) लगाया जाता है। आवश्यकता होने पर विद्रधि को करोर्जिक विधियो से खोला जा सकता है। स्वस्थ त्वचा को कैफर स्पीरिट से पोछना चाहिए।

स्नान कुछ समय के लिये रोक देना चाहिए। प्रतिजीवक, सुल्फोनामीड, अन्य स्फूर्तिदायक उपाय, मा के रक्त तथा गामा ग्लोबूलिन की सुई आदि प्रलिखित की जाती हैं। यदि सुसकेतित हो, तो अनपच और स्थानाबद्ध पैठन के अड्डे की भी चिकित्सा करनी चाहिए।

भविष्यवाणी पर वहुत सावधानी से विचार करना चाहिए। दुर्बल बच्चो मे, क्लिष्टताएं होने पर या सहवर्ती न्युमोनिया (क्लोमशोथ), एंटेरोकोलीटिस होने पर अच्छी भविष्यवाणी नही की जा सकती।

नवजात शिशुओं में जानपदिक बुदबुदिया

यह रोग नवजात शिशुओं के लिये तीव्र छुतहा है ओर तल्पिकत पीपिकाओ के तीव्र विरचन और प्रसार द्वारा लछित होता है।

हेतुलोचन—सुनहरे स्ताफिलोकोक इसके निमित्त कारण हे। लेकिन कुछ वैज्ञानिको की धारणा है कि यह रोग स्ताफिलोकोको की एक अन्य विशेप जाति या शायद स्त्रेप्तोकोको के कारण होता है, यह भी सभव है कि रोग का असली कारण कोई निस्यद्य वीरुस हो।

गदजनन—रोग-विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका इस तथ्य की है कि नवजात शिशु के चर्म की अपनी एक विशिष्ट प्रतिकारिता होती है, जो वाक्तेरिक घटको के विरुद्ध वस्तिकाओं के विकास मे व्यक्त होती है; अपरिपक्वता, जन्म-क्षतिया तथा सगर्भता-काल में गरलता भी सप्रेरक घटक हैं।

बहुमारीलोचन—रोग बहुत ही छुतहा है। पैठन के मुख्य स्रोत आयुर के कार्यकर्मी (नर्स, कंपाउंडर आदि), हाल ही में चर्मपूयता से पीडित माएं और पयोपा बच्चे मे पूयिक अड्डे होते है (उदाहरणार्थ, नाभि-रज्जु से पैठन)। वासिलों के वाहक व्यक्ति भी पैठन फैला सकते है। रोग की बहुमारिकता जच्चा घरो मे प्रकट हो सकती है, जहां बीमार नवजात शिशु से पैठन वहा के कार्यकर्मियों के माध्यम से स्वस्थ वच्चों तक पहुंच सकता है। यदि बहुमारी शुरू हो जाये, तो शिशु-विभाग को बद कर देना चाहिए और कमरो, वस्त्रों को निष्पैठित करना चाहिए। यदि कुछ ही बच्चे बीमार हो, तो उन्हें अलग कर देना चाहिए। इस तरह के तथ्य देखने मे आये है कि बासिल के वाहक व्यक्ति का किसी दूसरी जगह (काम पर) स्थानांतरण कर देने से रोग के नये केस नहीं उत्पन्न होते और बहुमारी उन्मूलित हो जाती है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—रोग शिशु के जन्म के बाद प्रथम दिनो या सातवें से दसवें दिन शुरू होता है। त्वचा पर, जो पहले साफ या हल्की ललामिक थी, मटर के आकार के छोटे बुल्ले (या कुछ बड़े भी) कुछ ही घटो मे उत्पन्न हो जाते हैं। इससे पूर्व बच्चे मे बेचैनी और ज्वर अवलोकित होता है। बुल्लों का अतर्द्रव्य धुधला और पूयिक हो जाता है। फिर बुल्लों का आकार बढता है और पूरे शरीर पर छाने लगते हैं, उनकी चोटिया (शीर्ष) फटती हैं और चमकीली लाल, आर्द्र और खुजलीग्रस्त अपरदित सतह अनावृत होती है (दिखायी पडती है), परिसर पर अधिचर्म के अवशेष होते है। अपरदन से निकला स्राव सीग्मी-पूयिक खड्डी वनाता है। रोग के प्रिय स्थल, नाभि, पेट, वक्ष, पीठ, नितब और हाथ-पैर है। प्रक्रिया मुंह, नाक, जननेंद्रिय और आखो की श्लेष्मल झिल्ली पर भी फैल सकती है। इन स्थलो पर वुल्ला वहुत जल्द फट जाता है और उसकी जगह पर गोल, अडाकार या बहुचक्रीय आकृति की अपरदित सतह रह जाती है (बुल्ले की आकृति

के अनुसार स्वस्थ तथा अपरिपक्व पर्याप्त बच्चो मे यह रोग बहुत तेजी से फैलता है फिर बुल्लो मे से पीप के स्फोटन से बच्चा बेचैन हो जाता है ठीक से सो नहीं पाता, ज्वर का तापक्रम 38-39°C हो जाता है; अनभुख, श्वेतकोशिकाप्रकर्ष, एल्बुमिनोरिया तथा ESR वर्धन भी अवलोकित होता है। इन स्थितियो मे अनेक क्लिष्टताए उत्पन्न हो सकती है--कर्णशोथ, वृक्कशोथ, फ्लगमोन और यहा तक कि पूयन भी।

महामारिक बुदबुदिया (रह-रहकर) विस्फोट की तरह होता है, एक साथ ढेर सारे बुल्ले थोडे-थोडे समय पर निकल आते है। स्फोटन रुकने पर कुछ समय बाद उसका पुनरावर्तन भी हो सकता है। यदि कोई क्लिष्टता उत्पन्न नही होती, तो रोग तीन से पाच सप्ताह मे ठीक हो जाता है।

ऊतगदलोचन--बुल्ला का शीर्ष सामान्य शृगी परत से बना होता है और आधार काटल परत से। बुल्ला के कोटर मे श्वेतकोशिकाए, काटल परत की मृत कोशिकाएं तथा रोगकारी जीवाणु होते हैं। वस्तिकाए शोफित होती हैं और कुभियो के गिर्द हल्का अंतर्स्यंदन होता है।

निदान--निदान प्रथम दो सप्ताह मे बुल्लो के निकलने की बारी (पाली) पर, उनके द्रुत विकास और उनके आधार (तली) मे अतर्स्यद की अनुपस्थिति पर आधारित होता है। विभेदक निदान सबसे पहले सीफिलिक बुदबुदिया और जन्मजात अधिचमलयता के साथ किया जाता हे, जो जन्म के समय उत्पन्न होती हे। नवजात की सीफिलिक बुदबुदिया मे बुल्ला अंतर्स्यदित आधार (तली) के साथ मुख्यत हथेलियो, तलवों और नितबों पर होता है। इसके अतिरिक्त आरंभिक सीफिलिस के लक्षण पाये जाते हैं। सीफिलिक नासाशोथ, वस्तिकाएं, होखजिगर (Hochsinger) द्वारा वर्णित विसरित अतर्स्यदन, बुल्ला से निकले स्राव मे त्रेपोनेमा पालीडुम का पता लगना, लबी गठिक अस्थियो पर प्रभाव, वासरमान (Wassermann) द्वारा निरूपित परीक्षण के धनात्मक परिणाम, प्रेसीपीटिन प्रतिक्रिया, त्रे. पालीडुम के निश्चलीकरण का परीक्षण आदि। जन्मजात अधिचर्मलयता मे बुल्ले चर्म के उन्हीं क्षेत्रों मे स्थानाबद्ध होते है, जहा चोट आयी रहती है, नवजात शिशु मे ये स्थल है--सिर, कधे, पैर। बुल्लानुमा क्षतिया बहुत अल्प संख्या में होती है (कही-कही एकाध)। शोथ अक्सर नही होता, या मुश्किल से व्यक्त रूप मे होता हे। जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलयता का कुपोषी रूप नखो, दांतों तथा बालो मे कुपोषज परिवर्तनों द्वारा लक्षित होता है। छोटी शीतला (चिकेन पौक्स) मे पीपिकाए अपने स्वच्छ पीताभ अतर्द्रव्य के कारण वस्तिकाओं और बुल्लाओ से मिलती-जुलती है। गोल (वर्तुली) तनी हुई पीपिका के मध्य मे कुछ दबा हुआ स्थल एक महत्त्वपूर्ण निदानिक लक्षण है परिसर मे पीपिकाएं हल्के शोफित अति

रक्तिल ऊतक के सकरे कटिबध से घिरी होती है। छोटी शीतला की पीपिकाए विरले ही फटती है उनका अतर्द्रव्य सूखकर पूय-सीरमी खट्टी मे परिणत हो जाता है।

चिकित्सा—बुल्ला का मुह खोलकर अधिचार्म अवशेषो को सावधानीपूर्वक निकाला जाता है। अपरदन पर 5 प्रतिशत बोरिक अम्ल ओर नफ्थालान का मलहम, या 3-5 प्रतिशत सुल्फोनामीद तथा 2-3 प्रतिशत प्रतिजीवको से युक्त मलहम, या अनीलीन रंजकों का 1 प्रतिशत घोल लगाया जाता है। गुनगुने पानी मे पोटाशियम परमैगनेट घोलकर स्नान या धोने की सलाह दी जाती है। तीव्र एव विस्तृत क्षतियों की स्थिति मे प्रतिजीवकों, सुल्फोनामीड और वी-सकुल के विटामिनो से सामान्य चिकित्सा की जाती है, इसी उद्देश्य से मा के रक्त की सुई भी दी जाती है। विशेष तीव्र स्थिति में (जब रोग चर्मारुण रूप मे होता है) कोर्टिकोस्टेरोइडो से शिशु की प्राण-रक्षा हो सकती है। बच्चे की चिकित्सा और देखभाल मे पूर्ण सफाई रखना परमावश्यक है।

निरोध—कपडे, वस्त्र आदि कम अतरालो पर बदलते रहना चाहिए। प्रसूति-गृहो मे परिचारिकाओं तथा मांओं को हाइजिन के सिद्धांतो से अवगत होना चाहिए और नवजात शिशु के पास आने से पहले मुह-नाक पर गजी (जालीदार सूती कपडे) का टुकड़ा बाध लेना चाहिए। नर्सों, प्रसूतको, धायो आदि सभी कर्मचारियो की समय-समय पर जाच होनी चाहिए, ताकि यदि उनमे चर्मपूयता का अधिकेद्र (अड्डा) हो, तो ठीक समय पर पता चल जाये। यदि किसी मे चर्मपूयता का अधिकेद्र मिले, तो उसे अस्थायी तौर पर किसी अन्य काम पर स्थानातरित कर देना चाहिए। नेटा (नासा-स्राव) तथा गले के खखार का भी परीक्षण करना चाहिए कि कोई बासिलों का वाहक तो नही है। कक्षाओ को क्वार्टस्-लैप से विकिरणित करना चाहिए और सभी प्रकार की सफाई भीगे कपडे से करनी चाहिए।

भविष्यवाणी नवजात शिशु की प्रतिरोध-क्षमता, उसकी प्रतिकारिता-शक्ति और शरीर मे रोग के फैलाव पर निर्भर करती है। रोग के सुदम रूप मे वह अच्छी होती है और दुर्दम रूप मे वह गभीर भी हो सकती है। प्रतिजीवको के आविष्कार से पहले बहुमारिक बुदबुदिया से मृत्यु की दर 50 से 60 प्रतिशत तक थी। अव वह वहुत घट गयी है।

रिट्टर का रोग (नवजात शिशु में अपशल्की चर्मशोथ)

कुछ वैज्ञानिक इसे नवजात शिशु मे अधिचर्म बुदबुदिया का ही तीव्र रूप मानते है, जबकि अन्य वैज्ञानिक दोनों को अलग-अलग रोग मानते है। प्रथम मान्यता इनके अस्थायी तल्पिक रूपों इनके छुतहापन और प्राथमिक क्षतियों की

विशेषताओ पर आधारित है

हेतुलोचन अधिकाश नैदानिक अपशल्की चर्मशोथ को के पैठन से उत्पन्न मानते है (अधिकाश उदाहरणो मे सुनहरे ही गदजनक पाये गये है)। कुछ वैज्ञानिक इसे स्ताफिलोकोकों और स्त्रेप्तोकोकों के मिश्रित पैठन से उत्पन्न मानते है, क्योंकि कुछ उदाहरणो मे स्त्रेप्तोकोको का बहुगुणन भी देखा गया है।

गदजनन की युक्तिया दोनो ही रोगो मे एक जैसी है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह—नवजात मे बहुमारिक बुदबुदिया की तरह यह रोग भी जन्म के बाद प्रथम सप्ताह के ही दौरान होता है। पहले मुह मे एक चमकदार शोफित शोथी ललामी उत्पन्न होती है, जो जल्द ही गले की सलवटो पर और नाभि, जननेंद्रिय व पृष्ठद्वार के गिर्द फैल जाती है। इसकी पृष्ठभूमि पर बडे-बड़े वर्तुली एवं तनावपूर्ण बुल्ले उत्पन्न होते है, जो जल्द ही फट जाते है और उनके स्थान पर स्रावयुक्त अपरदित सतह रह जाती है। हल्की क्षति से भी शोफित एव ढीली अधिचर्म अपनी जगह से उघड जाता है। जब अपरदनो के गिर्द स्थित अधिचर्म की धज्जियों को चिमटे से खींचा जाता है, तो वे नीचे की परतो से अलग हो जाती हैं—यहां तक कि स्वस्थ दिखने वाली त्वचा पर भी दूर-दूर तक (इसे निकोल्स्की-निरूपित धनात्मक चिह्न कहते हैं)। इसके पूर्ववर्ती लक्षण या तो बिल्कुल नहीं होते, या मतली और ज्वर मे व्यक्त होते हैं। कुछ स्थितियो मे बुल्लानुमा स्फोट शुरू में रहते है पर बाद में रोग चर्मारुणता के लक्षण ग्रहण कर लेता है। कुछ रोगियो मे यह रोग चर्मारुणिक परिवर्तनो की उत्पत्ति से शुरू होता है। ऐसी स्थिति में चर्म की लगभग सारी सतह दो-तीन दिनों में रोग-प्रक्रिया की चपेट में आ जाती है। रोग के तीन चरणो मे भेद किया जाता है—ललामिक, अपशल्की, नवजनक। प्रथम चरण में त्वचा विसरित रूप से लाल होती है, शोफ होता है। बुल्ला उत्पन्न होते हैं। अधिचर्म मे और इसके नीचे रिसाव होता है, जिससे निस्त्वचन शुरू होता है, जगह-जगह पर अधिचर्म उघड़ जाता है (निकोल्स्की-निरूपित लक्षण)। द्वितीय चरण अपरदनो द्वारा लंछित होता है, जो परिसरीय प्रसार की प्रवृत्ति रखते हैं और सलीन हो जाते है। यह सबसे गभीर काल होता है (बच्चा द्वितीय, कोटि के झुलसन से ग्रस्त रोगी की तरह लगता है। उच्च ज्वर, अनपच, अल्परक्तता, श्वेतकोशिकाक्लेश, एओजीनोफीलिया, उच्च ESR, भार में कमी, निर्बलता आदि अवलोकित होते है। तृतीय, नवजनक चरण मे चर्म का रक्तातिरेक और शोफ कम हो जाते हैं, अपरदन पर उपकला का जन्म होने लगता है।

रोग के हल्के रूप में इन चरणों की प्रकृति इतनी स्पष्ट नहीं होती तीव्र

शोथ 10 से 14 दिनो में दूर हो जाता है और अधिचर्म के वहुपरनीय नि शल्कन की प्रचुरता देखी जाती है। तीव्र केसों मे प्रक्रिया सृपन के रूप ग्रहण कर लेती हे और अक्सर क्लिष्टताएं भी उत्पन्न होती है (क्लोमशोथ, कर्णशोथ, छादिकीय प्रक्रियाए, फ्लेगमोन), जो घातक सिद्ध हो सकती है। कुछ बडे नवजात शिशुओ मे रोग का प्रवाह कुछ सुदम होता है।

नवजात में बहुमारिक बुदबुदिया की तरह यह रोग-प्रक्रिया भी मुह, होठो, नाक और जननेंद्रियो की श्लेष्मल झिल्ली पर फैल सकती है; तब साथ मे अपरदन और फटाव भी होता है (मुह के कोनों पर, होठो पर)।

ऊतगदलोचन—अधिचर्म मे रिसाव से शृंगी परत से उभार उत्पन्न हो जाता है या वह बिल्कुल खत्म हो जाती है। काटल, पिटकामय एवं अवपिटिकामय मे स्पष्ट शोफ उत्पन्न होता है, रक्तकुभियो का विस्फारण हो जाता है और श्वेतकोशिकीय अतर्स्यंद वन जाते हैं।

निदान के आधार हैं—नवजात शिशु के जीवन के प्रथम दो या तीन सप्ताह के अन्दर चर्म मे विस्तृत शोथी परिवर्तन (साथ-साथ बुल्ला उत्पन्न होते है, जो चोइयों के रूप मे अपशल्कन को स्थान देते हुए गायब हो जाते है), रोग की हठात शुरूआत और तीव्र प्रवाह जो कभी-कभी तीव्र सांगोपाग अवस्था द्वारा लंछित होता हे, क्षतियों की विशिष्ट स्थानाबद्धता, धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण और रक्त मे रूपलोचनी परिवर्तन।

विभेदक निदान दग्ध, बुल्लेदार अधिचर्मलय, प्रारंभिक जन्मजात सीफिलिस की बुदबुदिया, लाइनर-रोग (अपशल्की चर्मारुणता) तथा जन्मजात मीनचर्मता-सदृश चर्मारुणता के साथ किया जाता है। दग्ध की सभावना रोग-वृत्ति के आधार पर त्यागी जा सकती है। बुल्लेदार अधिचर्मलय और सीफिलिसी बुदबुदिया से भिन्नता दिखाने वाले लक्षण पूर्ववर्ती अनुच्छेद मे बताये गये है। लाइनर-रोग बडी उम्र के बच्चों में होता है, यह ललामिक-अपशल्की क्षतियों द्वारा लछित होता है; इसमे बुल्ला नहीं बनते, लेकिन पृष्ठद्वार और जननेंद्रिय के क्षेत्र (वृहत चर्म सलवटो पर) पूरी तरह ग्रस्त हो जाते है। क्षतियां धड, चेहरे और शिरोवल्क पर होती है, जिनका अधिकतम विकास जीवन के द्वितीय महीने मे होता है। इसके बाद अपशल्की चर्मशोथ गायब हो जाता है। अपरदन कम चमकदार होते है, वे रसालु-से दिखते है। क्षतियो का रग पीताभ होता है, शल्क तैल तथा पीताभ होते है (इन लक्षणो के कारण अपशल्की चर्मारुणता वपास्रावी दिनाई की तरह लगती है)। जन्मजात मीनचर्मता सदृश चर्मारुणता का बुल्लेदार रूप जन्म के पूर्व ही विकसित होने लगता है और बुल्लो अपरदनों तथा व्रणो से युक्त चर्मारुणता के रूप में व्यक्त होता है जो चोट लगने वाली जगहों पर अधिक स्पष्ट होता है हथेलियों और

तलवों पर अंतिश्रगन होता है इन सभी लक्षणों के साथ साथ अस्थियों तथा दांतों की विरूपता और क्षीण वृद्धि भी सम्भव हो जाता है रोग का विकास शरीर के सामान्य तापक्रम और रक्त के सामान्य रूपलोचन के परिप्रेक्ष्य में होता है।

चिकित्सा—ऐसे रोगियों की चिकित्सा अपेक्षाकृत कठिन है और इसमें चर्मलोचक व बालरोग-विशेषज्ञ के सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता होती है। पहले विवेकसंगत आहार निश्चित करना चाहिए और सफाई का पूरा ख्याल रखना चाहिए। ठंड से बचाना चाहिए (शीतलतादायक लोशन और पुल्टिस प्रतिसंकेतित है)। बाह्य चिकित्सा में प्रतिशोथी प्रभाव डालने तथा पूय-खड्डियों को हटाने के लिये चरणगत थेरापी के रूप में निम्न दवाएं प्रलिखित होती हैं—5 प्रतिशत नेओमीसिन, गेलिओमीसिन या डीविओमीसिन से युक्त महलम; 0 5-1.0-3 0 प्रतिशत एरीथ्रोमीसिन या 5 प्रतिशत पोलीमिक्सीन से युक्त मलहम। सीमित क्षेत्रों पर कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोनों और प्रतिजीविकों से युक्त मलहम एवं क्रीम भी प्रयुक्त हो सकते है, जैसे—लोकाकोर्टेन, ऑक्सीकोर्ट, गेओकोर्टन, डेर्मोजोलोन। सामान्य (सांगोपांग) थेरापी में पेनीसिलिन या तेत्रासिक्लीन-यौगिक, सुल्फोनीलामीद (सूक्ष्मतृणों की संवेदिता और बच्चे की सहन-शक्ति को ध्यान में रखते हुए), विटामिन बी-संकुल, विटामिन 'सी' और मां के रक्त की सुई का उपयोग होता है। स्टेरोइड हार्मोन उग्र स्थितियों में ही दिये जाते हैं। सृपन होने पर प्रतिजीवक थेरापी के साथ-साथ डेक्स्ट्रानों, नैसर्गिक प्लाज्मा, ताजा साइट्रेटकृत रक्त, कोर्टीकाल और पावा तदनुरूप खुराकों में नित्य दो बार (हर 12 घंटे पर) दिया जाता है।

निरोध के उपाय वैसे ही हैं, जैसे जन्मजात बहुमारिक बुदबुदिया के लिये।

भविष्यवाणी गंभीर (खतरनाक) है और अधिकांशत शरीर की प्रतिरोधिता तथा प्रक्रिया के प्रसार व तीव्रता पर आधारित की जाती है। प्रतिजीवकों और स्टेरोइड हार्मोनों के उपयोग से इस रोग के कारण मृत्यु की दर बहुत घट जाती है।

नवजात में बुल्लेदार इंपेतिगो

यह रोग नवजात में बहुमारिक बुदबुदिया का हल्का रूप माना जाता है, जिसमें यह अपर्याप्त चिकित्सा के कारण परिणत हो सकता है। बच्चे का स्वास्थ्य खराब होने पर भी परिणत हो सकता है। यह स्ताफिलोचर्मता का एक सुदम रूप है और मटर या चेरी के आकार के अलग-थलग स्थानाबद्ध एकल कोटरीय बुल्लों द्वारा लक्षित होता है। बुल्ले का शिखर पतला तथा तनावपूर्ण होता है और आर्द्र (गीले) अपरदन को नंगा करते हुए शीघ्र ही फट जाता है। उनका अंतर्द्रव्य सीरमी या सीरम-पूयिक होता है। स्राव सूखकर पतली सतही खड्डी में परिणत हो जाता है। बुल्ले धड एवं हाथ-पैरों पर उत्पन्न होते हैं और उनमें परिसर में प्रकीर्णित होने

(बिखरने) की प्रवृत्ति होती है। बच्चे की सामान्य अवस्था मे विरले ही कोई गडबडी होती है।

निदान मे कोई कठिनाई नही होती।

चिकित्सा—वुल्लो को खोलकर अपरदन पर अनीलीन रजको का लेप लगाया जाता है। बच्चे की इस काल मे अन्य सायोगिक रोगो से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वे रोग-प्रक्रिया के प्रवाह को उग्र कर सकते है।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

जुंतक चर्मरोग (जंतुक परजीवियों से उत्पन्न चर्मरोग)

जतुक परजीवियो से उत्पन्न होने वाले चर्मरोगो को जंतुक (या जतुक) चर्मरोग कहते है। जंतुक परजीवियो मे निम्न के नाम आते है—जू (यूका), पिस्सू (पिशु), खटमल, मच्छड़ और कुटकी की कुछ जातिया (खाजकारी कुटकी, घोडों व चूहो की कुटकिया, दानेदार खुजलियों के निमित्त कारण आदि)। चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन में महत्त्वपूर्ण रोग हैं—खाज और यूकार्ति (चिल्लडक्लेश)। इनका आक्रमण रोगी व्यक्ति के साथ सीधे सपर्क से या उसकी वस्तुओ (अप्रत्यक्ष मार्ग) से होता है—विशेषकर उसके वस्त्रो और बिस्तर से।

ये रोग विशेषकर युद्ध, अकाल, बर्बादी, वृहत पैमाने पर लोगो के विस्थापन के समय फैलता है। अधिक जमघट, अनियमित स्नान, गदे कपडे आदि इस रोग को फैलाने में सहायक होते है। फिर भी 1970-74 मे विश्व के अनेक देशो मे खाज का जो 'विस्फोट' (आकस्मिक प्रसार) हुआ था, उस समय इसके परंपरागत सहायक घटक अनुपस्थित थे। इसीलिये यह विचार प्रस्तुत किया गया कि खाज की 'महामारी' पर परिवेशिकीय एव मौसमलोचनी घटकों का प्रभाव पड़ता है (विस्तृत अर्थ मे), जो शायद इसके निमित्त कारणो की जीवलोचनी सक्रियता पर असर डालते हैं। इससे रोग का उन्मूलन करने, उसकी गादिकता कम करने की एटी-बहुमारिक युक्तियो और आरोग्यशालीय विधियो के पूरे संकुल को अपनाने का महत्त्व बहुत बढ जाता है, सोवियत स्वास्थ्य सेवा मे इनकी कारगरता पूरी तरह सिद्ध हो चुकी है।

भारत में लोगो का जीवन-स्तर ऊचा होने के कारण, सही स्वास्थ्य शिक्षा और आयुरी सेवा के निरोधात्मक और आरोग्यशालीय सिद्धातो पर आधारित कुशल आयुरी सहायता ने इस देश में ऐसी परिस्थितियो को जन्म दिया है जिनसे

यूकार्तों का [illegible] और खाज की पायकता म बहुत कमी की जा सकी ह

खाज

हेतुलोचन और गदजनन—खाज आकारूस स्काविएइ या साकोप्टेस स्काविएइ वार होमोनिस नामक कड्डुकारो कुटकियो से होती है। मादा कुटकी नर से बडी होती है (क्रमश 0 14-0 19 मिलीमीटर लबी और 0 4-0 45 मिलीमीटर चौडी) ओर देखने मे कछुए की तरह लगती है (चित्र)। नगी आखो से देखने पर वह पिन के सफेद सिर जैसी दिखती है। निषेचन के बाद (जो चर्म की सतह, अर्थात् त्वचा पर होता है) नर की मृत्यु हो जाती है और मादा कुटकी अधिचर्म की सतही परतो को बेधकर उनमें बिल बना लेती है, वह अपने खीतिन (chitin) के मजबूत जबडो से चर्म की शृगी परत मे छेद कर लेती है। चर्म से बाहर वह कुछ ही दिनो मे मर जाती है। छ से आठ सप्ताह में मादा कुटकी बिल मे 50 तक अडे देती है। इनसे वयस्क कुटकिया तीन से सात सप्ताह में बनती है। आकलन किया गया है कि तीन महीनो मे एक मादा कुटकी के अडों से करीब 15 करोड कुटकियां विकसित हो सकती हैं।

रोग शरद ओर शीत ऋतु मे कुछ ज्यादा प्रायिक हो जाता है, यद्यपि इसके केस सालो भर मिलते रहते है। अतर्शयन-काल 7-10 दिन से एक महीना या इससे अधिक भी हो सकता है। शरीर पर इनका आगमन रोगी व्यक्ति के माध्यम से होता है, विशेषकर यदि बिस्तर, वस्त्र आदि साथ होते हैं। बच्चों मे यह रोग रोगी बच्चे से फैल सकता है।

तल्पिक चित्र—जिस स्थल पर मादा कुटकी प्रवेश करती है, वहा एक छोटी-सी वस्तिका बन जाती है। खाज का मुख्य लक्षण खुजली ही है। खुजली शाम को और रात मे विशेष तीव्र हो जाती है, जब रोगी सोने जाता है। लंछक खुजली के अतिरिक्त, जो रोग का प्रथम लक्षण है, जोड़ियो मे या बिखरे हुए पिन के सिर जैसे बड़े पिटिकीय वस्तिकीय दाने निकल आते है, बिल (भूरे डैशो जैसी रेखाए) और चर्म को खुरचने पर शल्क बनते है। कुटकी के प्रिय स्थल है अतरागुलिक चर्म की झुरिया, उगलियो के पार्श्व, कलाई की आकुचक सतहे, प्रबाहु और कोहनी की ऋजुकारी सतहे, धड़ की अग्र और पार्श्व सतहे, काक्षिक पुटको की अग्र सतहे, स्तनों के गिर्द, पेट पर विशेषकर नाभिकीय छल्ले के गिर्द, नितब, जाघ, पिडलिया और लिग का क्षेत्र। कोहनी की अस्थि-सधि की ऋजुकारी सतह पर कभी-कभी पिटकीय-वस्तिकीय क्षतियो पर शुष्क खड्डियो और शल्को का आवरण देखा जा सकता है (गोर्छाकोव-आर्डी का लक्षण)। बिल अधिकाशत. अतर्गंगुलिक झुर्रियो
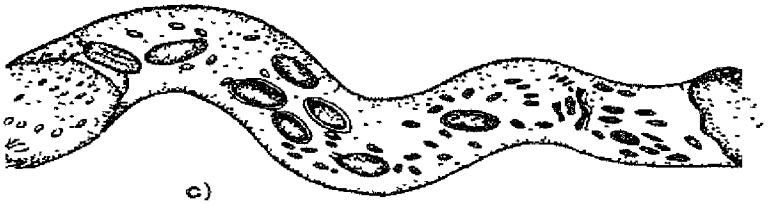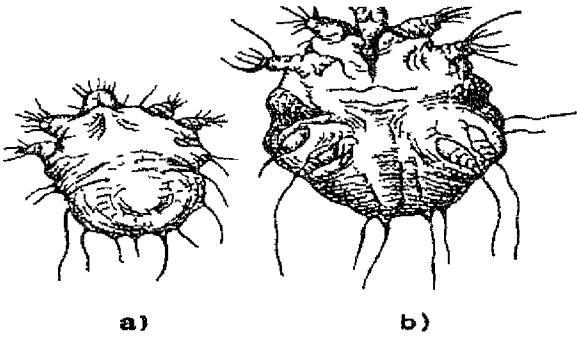
कुटकी
A नर। B मादा, C बिल

और कलाई पर देखे जा सकते है। उनकी लंबाइयां 2-3 मिलीमीटर से लेकर 0 5 सेंटीमीटर तक हो सकती है। विशालक शीशा से बिल को देखने पर पास-पास स्थित काले बिंदु दिखते हैं, जो कुटकी द्वारा बनाये गये छेद (द्वार) हे, जिनसे निकलकर सतान कुटकियां चर्म की सतह पर आती हैं, ये बिल में हवा के आने के रास्तो का भी काम करते है। कभी-कभी वस्तिकाओ के स्थान पर पिन के सिर जितनी बड़ी रक्त की खड्डियां भी बन जाती है।

उपर्युक्त स्थान ही कुटकी को प्रिय होते है, क्योकि वह पतली शृंगी परत पसद करती है। छोटे बच्चों मे खाज का स्थान कुछ भिन्न होता है—क्षतिया गोडो, हथेलियो, नितबों, तलवो, चेहरे और शिरोवल्क की मध्य (मेडियल) सीमाएं।

खाज के साथ होने वाली तीव्र खुजली के कारण रोगी खरोंचे और निशल्कन करके अक्सर पूयकारी पैठन को आमंत्रित कर लेता है। इसके फलस्वरूप खाज निम्न रोगो से क्लिष्ट हो सकता है—मशिकाशोथ, फुसी, लसग्रथिशोथ, लसकुभिशोथ, इपेतिगो, एक्थीमा। इन परिस्थितियो में खाज का तल्पिक चित्र बदल जाता है और निदान कठिन हो जाता है (फिर भी खुजली की प्रकृति और प्रक्रिया के स्थलो के आधार पर सही निदान किया जा सकना है)। कभी-कभी प्रकीर्णित एव क्लिष्ट खाज की स्थिति मे रक्त में एओजीनोफीलिया और आल्बूमिनूरिया भी पाये जाते है रोग जीवाणुक दिनाइ से भी क्लिष्ट हो सकता है जिसमें क्षतिया स्त्रियों के

चुचुक के गिर्द और पुरुषों का लिंग का मध्य (मध्यिल सतह पर अधिक होती है ये क्षतियां स्पष्टतया से परिसीमित होती है कभी कभी उनमे रिसाव होता है वे अनेक पीपकाओं और खड़ियों से आच्छादित होती है

खाज के अपवादात्मक रूप (अवलिप्त खाज) पिछले समय में अधिक प्रायिक हो गये है; इनमें लाक्षणिक क्षति नही होती (विशेषकर कुटकी के बिल), लेकिन खुजली बहुत तीव्र होती है। रोग का यह रूप उन्हीं व्यक्तियो मे होता है जिन्हे सफाई से रहने की आदत नहीं होती, या उन रोगियो मे, जिनका ठीक ढग से इलाज नही होता। वैसे, ध्यान से निरीक्षण करने पर इन केसो मे भी जोडियो में पिटिकीय वस्तिकाएं, बहुत नन्ही वस्तिकाएं और पित्तिक क्षतिया अनुवेदित हो सकती है।

ऊतगदलोचन—कुटकी का बिल मुख्यत: शृंगी परत मे स्थित होता है और सिर्फ इसका बद सिरा ही मालपीगी परत में या उसके पार पहुचा होता है। बिल का यही वह भाग है, जिसमे मादा कुटकी निवास करती है। मालपीगी परत मे अंतर्कोशिकीय एव अतराकोशिकीय शोफ विकसित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप छोटी वस्तिका बन जाती है। मुख्यत: लसकोशिकाओं से बना हुआ एक चिरकालिक शोथी अतर्स्यंद सुचर्म मे देखा जाता है। यह बिल के नीचे स्थित रहता है।

निदान—खाज को कभी-कभी गलती से कडु मान लिया जाता है, क्योकि इसमें भी रोगी खुजली से परेशान रहता है। लेकिन इसमे खुजली दिन-रात रहती है, रोग वर्षो तक टिका रह सकता है; इसके लक्षण है—त्वचा का भूरा रग, श्वेत चर्मलेखन (डर्माटोग्राफिया), पिटिकाओ की उपस्थिति (अक्सर रक्त की खड्डियो से आच्छादित), और लसपर्वो का वर्धन (कडुंक गिल्टिया), पिटिकाए अधिकांशत: हाथ-पैर की ऋजुकारी (उन्हें सीधी करने वाली) सतहों पर होती है।

खाज के निदान में निम्न लक्षण सहायक होते हैं—खाज के प्रिय स्थलों के चर्म पर पिटिकीय वस्तिकाओ की जोडियों में उत्पत्ति, रात में खुजली को तीव्रता मे वृद्धि, कुटकी का बिल, परिवार मे कई लोगो में खुजली और गोर्छाकोव-आर्डी का लक्षण। कुछ केसों मे 'त्रिभुज के लक्षण' से निदान मे सहायता मिलती है—त्रिकास्थिक क्षेत्र मे क्षतिया एक त्रिभुज बनाती है, जिसका शीर्ष नितबीय पुटक की ओर होता है। आमतौर पर पायी जाने वाली क्षतियो के अतिरिक्त इस क्षेत्र में इपेतिग क्षतिया और वर्णकता पायी जाती है, जो बाद मे कृपोपज चित्तियो में परिणत हो जाती है।

जब खाज का तल्पिक निदान कठिन सिद्ध होता है, तब कड्डुक कुटकियों के अनुवेदन के लिये प्रयोगशालीय परीक्षण किये जाते है। इसे बिल मे से पिन की सहायता से निकाला जा सकता है। उस्तरे से वस्तिकाओ का या अतर्द्रव्य समेत बिल का महीन अनुच्छेद काटने की विधि अधिक कारगर है। इन अनुच्छेदों को

स्लाइड पर क्षारीय हाइड्रोक्साइड के 20 प्रतिशत घोल से ससोधित किया जाता है, ढक्कन-काच से ढक दिया जाता है, फिर शुष्क प्रणाली वाले सूक्ष्मदर्शन (अल्प अभिवर्धन) से परीक्षण किया जाता है। प्रसाधन मे कुटकिया या उनकी जीवन-क्रिया के उत्पाद (अडे, विसर्ज) काले विदुओं के गुच्छों के रूप मे दिखाई देते है।

चिकित्सा—ऐसी दवाए प्रयुक्त होती है, जो शृंगी परत को ढीली करके विल मे प्रविष्ट होती है और कुटकियो को नष्ट कर देती है। एटी-परजीवी प्रसाधन अनेक है। चिकित्सा की कारगरता इन प्रसाधनो की प्रकृति पर नही, बल्कि इनके सही उपयोग और चिकित्सा की पूर्णता पर निर्भर करती है।

चर्म पर एंटी-खाज दवा मलने से पहले रोगी को गर्म पानी से स्नान करना चाहिए। इससे त्वचा (चर्म की सतह) पर स्थित कुटकिया यंत्रवत दूर हो जाती हे और शृंगी परत ढीली हो जाती है। लेकिन यदि रोगी चर्मपूयता या दद्रुक प्रक्रिया से पीडित है, तो उसे स्नान का निर्देश नही देते। एटी-खाज दवा धड़ और हाथ, हाथ-पैर के चर्म पर मली जाती है, उन जगहो पर विशेष अच्छी तरह से, जो खाज के लिये प्रिय है। शिरोवल्क का उपचार नहीं किया जाता। दद्रुकग्ण और इपेतिगोकरण होने पर दवा मली नही जाती, सिर्फ ग्रस्त क्षेत्रो पर लेपी जाती है। साथ-साथ क्लिष्टताओं की भी चिकित्सा की जाती है।

चर्म मे बेंजिल बेंजोनेट का घोल (बेंजोइक अम्ल बेजिल ईथर) मलना बहुत कारगर होता है। बेंजिल बेंजोनेट का साबुन पानी के साथ 20 प्रतिशत इमल्शन वयस्क रोगियो के लिये प्रयुक्त होता है और 10 प्रतिशत बच्चों के लिये। 20 प्रतिशत घोल निम्न रीति से बनाया जाता है—20 ग्राम हरा या कोई अन्य साबुन छोटे-छोटे टुकडो में काटकर 780 मिलीलीटर गर्म (हल्के) पानी मे घोल लिया जाता है और उसमें 200 मिलीलीटर बेजिल बेजोनेट मिला लिया जाता है। औषधालय मे 10 प्रतिशत इमल्शन बनाने का नुस्खा निम्न है—

Rp   Benzilbenziati 20.0

Saponis Viridis 3 0

Aq fontanae ad 200 0

MDS बाह्य अनुयोग के लिये

इमल्शन बनाने के बाद सात दिनो तक उसकी सक्रियता बनी रहती है। इसे 10 मिनट के अतराल पर दो बार त्वचा पर मला जाता है। दूसरे दिन उपचार दोहराया जाता है। तीन दिन बाद स्नान कराया जाता है, वस्त्र-बिस्तर आदि बदले जाते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, बच्चो का उपचार साबुन-पानी के साथ बेंजिल बेजोनेट के 10 प्रतिशत इमल्शन से होता है या इमल्शन के आधार पर 10

प्रतिशत बेंजिल बेंजोएट से युक्त मलहम तीन दिनो तक मला जाता है

[illegible] में बेंजिल बेंजोएट पेट्रोलेटम के आधार पर 10 या 20 प्रतिशत सान्द्रता के साथ बनाने की सलाह दी जाती है

खाज की चिकित्सा के लिए देमियानोविच की विधि मे सोडियम थायोसल्फेट का 60 प्रतिशत सान्द्र घोल (घोल नं. 1) और सान्द्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का 6 प्रतिशत (या तनुकृत का 18 प्रतिशत) घोल (घोल नं. 2) प्रयुक्त होते है। घोल नं. 1 को 10 मिनट के अंतराल पर दो बार चर्म के सारे क्षेत्र पर मल दिया जाता है, फिर दस मिनट बाद घोल नं. 2 मला जाता है (5 मिनट के अतराल पर पाच-पाच मिनट के लिये दो बार) सोडियम थायोसल्फेट का घोल एक तश्तरी मे ढाल लिया जाता है और उसमे हाथ गीला करके उससे मला जाता है। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का घोल बोतल से सीधे हाथ पर ढाला जाता है। मल लेने के बाद रोगी साफ कपड़े पहनता है, बिस्तर आदि बदल लेता है। अगले दिन उपचार पुन: दोहराया जाता है, चिकित्सा समाप्त होने के दो दिन बाद रोगी को स्नान की इजाजत दी जाती है। बच्चो के लिये सोडियम थायोसल्फेट का 40 प्रतिशत घोल और सान्द्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का 4 प्रतिशत सान्द्र घोल (या तनुकृत का 12 प्रतिशत सान्द्र घोल) प्रलिखित किये जाते है।

सल्फर का मलहम (वयस्को के लिए 20-33 प्रतिशत सान्द्र और बच्चो के लिए 10 प्रतिशत सान्द्र) या विल्किसन का मलहम (15 प्रतिशत सल्फर, 10 प्रतिशत खड़िया, 30 प्रतिशत हरा साबुन, 30 प्रतिशत पेट्रोलेटम) मला जा सकता है। बच्चो की चिकित्सा के लिये विल्किसन के मलहम में आधा-आधा जिंक पेस्ट मिला देते हैं। ये मलहम चर्म पर लगातार पांच दिनो तक नित्य एक बार मले जाते है। छठे दिन स्नान कराया जाता है और तभी वस्त्र-बिस्तर आदि बदले जाते है। सल्फर एवं विल्किसन के मलहमो का उपयोग सीमित है क्योंकि वे कपड़ो को गदा करते है और औषधजनित चर्मशोथ संप्रेरित कर सकते हैं। यदि चर्मशोथ विकसित हो जाता है, तो महलम लगाना बद कर देते है और जिंक का लोशन या पेस्ट प्रलिखित करते है। विल्किसन का मलहम वृक्कीय ऊतको में क्षोभ उत्पन्न कर सकता (वृक्कार्त्ति) है, इसीलिये वृक्करोग से ग्रस्त लोगो को यह प्रलिखित नही किया जाता।

खाज की चिकित्सा पोटाशियम-साबुन के ताजा तैयार किये हुए 5 प्रतिशत इमल्शन से भी की जा सकती है। यह 5 दिनो तक देह मे नित्य मला जाता है, चिकित्सा समाप्त होने के दो दिन बाद स्नान किया जाता है।

यदि चिकित्सा से लाभ नही होता, तो उसे तीन से पाच दिन बाद दोहराया जाता है।

ग्सिालु पारश्लेषण के प्रति प्रवणता रखन वाले बच्चों म खाज का उपचार करते वक्त और चर्मशोथ से बचने के लिये तथा कुटाली खुजली को रोकने के लिये भी (जो परिस्थितज गदलोचनी प्रतिवर्त के कारण उत्पन्न होती है) अवसंवेदक तथा प्रतिहिस्टामिनिक प्रसाधन (कैल्सियम ग्लुकोनाट, डिआजोलिन, सुप्रास्टिन आदि) प्रलिखित किये जाते हैं। यह चिकित्सा उन लोगो को भी दी जाती हे, जिनमे खाज परोर्जिक चर्मशोथ से क्लिष्ट हो जाता है।

सहवर्ती चर्मपूयता की चिकित्सा प्रतिजीवको, सुल्फोनामीटो और बाह्य प्रयोग की दवाओ सल्फर-टार और बोरिक अम्ल-टार से युक्त मलहमो, अनीलीन रजको और 2 प्रतिशत सैलीसीलिक अल्कोहल से की जाती है।

नियंत्रणकारी और निरोधात्मक युक्तियों का संगठन—सभी अनुवेदित रोगियों के लिये विशेष सूचना-पत्र भरे जाते हे। पैठन-क्षेत्र मे सभी रोगियो की एक साथ चिकित्सा खाज पर नियंत्रण की आवश्यक शर्त है। रोगी के परिवार के सभी सदस्यों या बाल-प्रतिष्ठान के सभी बच्चो व कर्मचारियो का निरीक्षण होना चाहिए। (यदि कोई रोगी इस प्रतिष्ठान मे जाता है)। सभी रोगियो का टीक समय पर अनुवेदन करके उन्हें बाकी लोगो से अलग करना चाहिए और उनकी चिकित्सा करनी चाहिए; तभी रोग-प्रसार का निरोध संभव है।

खाज के रोगियो की चिकित्सा विशेष प्रतिष्ठानो मे की जाती है, यदि बहुमारीलोचनी स्थिति प्रतिकूल होती है, तो कीटनाशक कदम सगठित किये जाते हैं।

आंतरिक वस्त्रो, बिस्तरों को पूर्णतः कीट-रहित करना (DDT छिडकना, K-साबुन से संसाधित करना) या शुष्कतापी या आर्द्र तापीय कक्ष मे कीट-रहित करना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उन्हें साफ करके उबालने के बाद उन पर गर्म इस्तरी भी की जा सकती है। अन्य वस्त्रों को किसी कक्ष मे निष्कीटित किया जा सकता है या उन पर DDT छिड़का जा सकता है।

खाज का एक बहुत विरल और विचित्र रूप है—**नौर्वेजियन खाज** (कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि यह सामान्य तौर पर ही पायी जाने वाली खाज का बहुत उपेक्षित रूप है)। इसका पहली बार वर्णन 1884 मे **नौर्वे** के डानियेल्सेन (Danielssen) ने किया था। यह अत्यत दुर्बल लोगो में (अक्सर कुष्ठ, मेरूसुषिरता आदि जैसे रोग से ग्रस्त व्यक्तियो में) और मदित बौद्धिक विकास वाले लोगो मे होता है।

नौर्वेजियन खाज मे आक्राति-स्थल पर चर्म शुष्क एव मोटी गाढी हरी खड्डियों से आच्छादित होता है, जो प्रसारित होकर आपस मे मिल जाती हैं और कवच की तरह दिखने लगती है। यह कवच गति को सीमित करता है. क्योंकि

चलते फिरते वक्त इसमे पीड़ा होती है नख बहुत मोटे हो जाते है ग्रस्त क्षेत्र में बाल शुष्क और कांतिहीन लगते है सभी नसपर्व वर्धित हो जाते है रोगी के शरीर से अप्रिय गंध आती है उल्लेखनीय है कि खाज के लक्षण स्पष्ट होने पर भी खुजली बहुत हल्की होती है या बिल्कुल नही होती। खड्डियो को बलपूर्वक हटाने पर अति रक्तिल चर्म प्रकट होता है, जिस पर नगी आखो से भी सफेद-सफेद बिंदुओ के ढेर दिखायी देते है। ये बिंदु कडुकारी कुटकियां है, जो खड्डियो और शल्को मे छिपी रहती हैं।

खड्डियो को 5-10 प्रतिशत सल्फर-टार के मलहम से दूर किया जाता है, जिसके बाद सामान्य एंटी-खाज प्रसाधन प्रयुक्त होते है, सामान्य स्फूर्तिदायक उपाय किये जाते है।

कभी-कभी बड़ी सख्या मे लोगो मे पेडीकुलोइडेस वेट्रीकोजुस का आगमन (आक्रमण) होता है इनसे दानेदार खुजली होती है। ये कुटकिया अनाजो पर रहती हैं। इसीलिये इनसे अक्सर अनाजघरो में ढुलाई करने वाले या इन कुटकियो से सदूषित पुआल पर सोने वाले ग्रस्त हो जाते है। चिकित्सा वैसी ही है, जैसी आम खाज की।

घोडो, चूहों, मुर्गो, कबूतरो आदि की कुटकिया आदमी को काट सकती है, जिससे तीव्र खुजली होती है, पिटिकाए, ददौर आदि बन जाते है, लेकिन वे अधिचर्म को वेधती नही है, बिल नहीं बनाती। ये कुटकिया घर मे वस्त्रो आदि पर भी चली जाती है। चिकित्सा मे अल्कोहल का घोल, लोशन आदि प्रयुक्त होते है। कपडो और घर का निष्टीकन, चूहो का उन्मूलन, बीमार घोडों की चिकित्सा—ये सब उपाय आवश्यक होते है।

खटमलो (सीमेक्स लेक्टूलोरिस) और पिस्सुओ (पूलेक्स इरीटास) के काटने से खुजलीकारी पित्तिक क्षतियां होती है। पिस्सू (पिशु) के दश-स्थल पर एक लघुक केद्रीय रक्तस्राव उत्पन्न होता है, जो अति रक्तिल धब्बे या ददौरे से घिरा होता है (आकार बाजरे के दाने के बराबर होता है)। चर्म पर जो अभिव्यक्ति होती है, उसकी चिकित्सा आवश्यक नहीं होती। खटमलो और पिस्सुओ के उन्मूलन के उपाय किये जाते है—खटमलो के निष्पैठक साधनो और घोलों से, पिस्सुओ के सल्फरकरण से, घर की सफाई से।

जब घोडे की कुकुरमाछी (बौट-फ्लाइ) के लार्वा आदमी के चर्म पर आ जाते है, तो 'लार्वा मिग्रांस' नामक एक रोग विकसित होता है, फिर पाश की तरह ऐठी हुई धागे-सी पतली और उभरी हुई सतह बनती है, जिसकी चौडाई 1-2 मिलीमीटर तक हो सकती है यह त्वचा के नीचे लार्वा 24 घटे मे 15 सेटीमीटर या इससे अधिक दूरी तय कर लेता है

चिकित्सा के लिये ग्रस्त क्षेत्र पर टिंचर आयोडीन, एथिल क्लोराइड का सघनन आदि प्रयुक्त होता है या लार्वा द्वारा आक्रांत क्षेत्र को करोजिक विधि से दूर कर दिया जाता है।

गीनिया-कृमि ड्राकुनकूलुस (फिरारिया) मेडीनेसिस विशेषकर गोड और टाग की अवचार्म वसा मे विकसित होता है, जहा एक गुल्म बन जाता है। गुल्म के ऊपर स्थित चर्म मे विगलनक्लेश हो जाता है; चर्म फट जाता है और वहा व्रण उत्पन्न हो जाता है, जिसकी तली पर ये परजीवी पाये जाते है। इन्हे मारने के लिये गुल्म में पारद डाइक्लोराइड की सुई दी जाती है, फिर 24 घटे बाद कृमि को कोटर मे से पतली शलाका पर लपेटते हुए निकाल लिया जाता है। यदि गुल्म फटा नही है, तो कृमि को करोर्जिक विधि से भी निकाला जा सकता है।

कुष्ठ

कुष्ठ एक चिरकालिक पैंठी रोग है, जो हासेन (Hansen) के बासिलों या मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे से होता है, इसकी खोज 1871 में हुई थी।

कुष्ठ का हेतुलोचन ज्ञात है, पर इसके बहुमारीलोचन, इसके पैठन ओर प्रसार की परिस्थितियों आदि का अध्ययन सर्वथा अपूर्ण है। रोग की निम्न विशेषताएं है—दीर्घकालीन अतर्शयन-अवधि, अनेक वर्षो तक का लबा प्रवाह, चर्म, श्लेष्मिल झिल्ली और नर्वतंत्र की विशिष्ट क्षति।

सोवियत सघ मे इस रोग के विशेष आक्राति-क्षेत्र हैं—काराकाल्पाक, उज्बेकिस्तान, कजाख्स्तान, निम्न-वोल्गा का क्षेत्र, सुदूर पूर्व और बाल्टिक गणतत्र। यदा-कदा अन्य क्षेत्रो मे भी इसके केस दर्ज होते है। कुल मिलाकर सोवियत सघ मे इससे ग्रस्त की सख्या बहुत कम है। इनमें से अधिकांश लोगों की चिकित्सा कुष्ठाश्रमो मे होती है। सोवियत सघ मे इस रोग की प्रायिकता बहुत तेजी से घटी है और इसका कारण है लोगों के आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य और सफाई के स्तर में उन्नति। इस बात की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है कि ठीक समय पर रोगी का अनुवेदन हो जाता है, उसे तुरत पृथक् कर दिया जाता है, उसके संपर्क मे आये सभी व्यक्तियो की जांच हो जाती है। प्रारंभिक आकडो के अनुसार विश्व मे करीब एक करोड से अधिक लोग इस रोग से ग्रस्त है। सोवियत संघ में कुष्ठाश्रम सगठित किये गये है, जहा कुष्ठ-रोगियो को रखा जाता है, उनकी पूर्ण चिकित्सा की जाती है, ताकि वे सामान्य जीवन में लौट सके।

हेतुलोचन और गदजनन—कुष्ठ के निमित्त कारण 'मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे' एसिड एव [illegible] होते है। ये टसील-नीलसेन (Ziehl Neelsen) का

कुष्ठाबिक कुष्ठ

कर लेते है और 'मीकोबाक्तेरिउम तुबेरकुलोसिस' से मिलते-जुलते
क्रति छड़ की तरह होती है, जिसके सिर कुछ नुकीले होते हैं।
गुच्छो (ग्रुपो) मे होते है, जो देखने में सिगार के पैकटों की तरह
लग छड़ो के रूप में ये कम ही होते हैं। इनका कैप्सूल नहीं होता
हीं बनाते।

प्रति अधिक प्रवण होते हैं, जबकि वयस्क बहुत कम ही इससे
ये इस रोग से पीडित बच्चो व वयस्को का रक्त 'मीकोबाक्तेरिउम
टीवेट करने) मे प्रयुक्त होते हैं। रेशाकुरों, माक्रोफागों और
शिकाओ पर इन जीवाणुओ को पनपाने के कुछ प्रयत्न सफल

ने वाले गांठवत कुष्ठ की क्षतियों से मिलती-जुलती क्षतिया
ली बार सोवियत सघ मे उत्पन्न किये गये थे (केंद्रीय चार्म और
न में)। इससे कुष्ठ के तल्पिक चित्र, गदजनन, निरोध और
गिक अध्ययन हो सकेगा।

आदमी के शरीर मे मि लेप्रे के प्रवेश के मार्ग का अभी तक पूरी तरह अध्ययन नही किया जा सका है। लबे समय तक दैनदिन जीवन मे रोगी के साथ निकट का सपर्क (जैसे परिवार मे) निश्चय ही पैठन को सप्रेरित करता है। रोगी का अन्य व्यक्तियो (विशेषकर परिवार के सदस्यों) के साथ जितना ही लंबे समय तक सपर्क रहेगा और परिवार मे सांस्कृतिक, स्वास्थ्य सफाई व हाइजिन का स्तर जितना ही निम्न होगा, पैठन की सभावना उतनी ही अधिक होगी। स्पष्टत यह नन्ही बूदो के माध्यम से (जो खासने, छीकने के वक्त मुह से निकलती है) श्वसन मार्ग के सहारे होता है (प्रारंभ में मि. लेप्रे नाक की विभाजक दीवार के उपास्थिक भाग की श्लेष्मल झिल्ली पर अनुवेदित होता है)। यह विचार भी प्रस्तुत किया गया था कि पैठन चर्म से होकर होता है (प्रथमत पैरो के चर्म से होकर)। इसका प्रमाण यह है कि रोग के प्रारंभिक चरण मे कुष्ठ के बासिल ऊरुक (जांघों के) वर्धित लसपर्वो मे पाये जाते हैं। कुछ केसो में सहवर्ती रोगों, जैसे पैर (गोड़) की कवकता (विशेषकर कादिदक्लेश) को महत्त्व दिया जाता है। क्षत चर्म (जैसे उड़ने वाले रक्त-चोषक कीड़ों के दश-स्थल, गोदना-स्थल, घाव) से भी पैठन की खबरे मिली है। इसमे को सदेह नहीं है कि कुष्ठ-प्रक्रिया के विकास के रूप आदमी के शरीर के व्यक्तिगत गुणों, इसकी प्रतिरोधिता और सामान्य अवस्था पर निर्भर करते है।

विभिन्न वैज्ञानिको के अनुसार इसका अतर्शयन-काल औसतन चार से छ वर्ष तक निर्धारित किया गया है। लेकिन यह भी विश्वसनीयता के साथ निर्धारित किया गया है कि इसमे दो से तीन महीने भी लग सकते हैं और 10-20 से 50 वर्ष तक भी। इसलिये कुष्ठ प्रलक्षित अतर्शयन-काल द्वारा लछित होता है, जिसकी लबाई बहुत भिन्न हो सकती है।

कुष्ठ बहुत अल्प छुतहा माना जाता है, यह यक्ष्मा से भी कम छुतहा है। वयस्कों की अपेक्षा बच्चो में इसके प्रति कम प्रतिरोधिता होती है और दीर्घकालीन सपर्क की परिस्थितियो मे वे इस रोग से अधिकतर और अधिक शीघ्रता से ग्रस्त हो जाते है।

रोगपूर्व की अवधि में रोगी अस्वस्थता की शिकायत करता है, उसे तीव्र नर्वशूलीय पीडा, अस्थि-सधियो मे दर्द, प्रगामी (उत्तरोत्तर बढने वाली) दुर्बलता और जठरांत्र की गड़बड़ियां होती है। कभी-कभी परिसवेदना, अति-सवेदना और ज्वर भी पायी जाती है। इसी काल मे हासेन के बासिल भी नासा-भित्ति की श्लेष्मल झिल्ली पर अनुवेदित हो जाते है। इसके बाद रोग के तल्पिक लक्षण विकसित होते हैं रूपलोच्नी के अनुसार तीन प्रकार का कुष्ठ रोग होता है

कुष्ठ का वर्गीकरण

१. कुष्ठार्बिद या दुर्दम, तीव्र प्रकार
२. गंडिकल या मृदम, हल्का प्रकार
३. अनिश्चित या विभाज्य प्रकार

कुष्ठार्बिक प्रकार का कुष्ठ

कुष्ठार्बिक प्रकार मे पहले अनिश्चित प्रकार के मुश्किल से दिखने वाले ललछौंह धब्बे उत्पन्न होते है, जिन पर नीली या लोहित आभा होती है। रोग के आरभ मे इन क्षेत्रो पर कोई संवेदी गड़बड़िया (दर्द, जलन, स्पर्श आदि की) नही होती। धब्बे धीरे-धीरे अतर्स्यद बन जाते है। प्रक्रिया की चपेट मे सुचर्म के अतिरिक्त अवचर्म वसा भी आ जाती है और पर्विकाए (कुष्टार्ब) बन जाती है। ये अतस्यद और पर्विकाए अक्सर हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर, आंखो मे ऊपर ललाट पर, गालो और नाक पर उत्पन्न होती है। चेहरे का भाव गडबड हो जाता है, चेहरा विकृत और भयावह हो जाता है (सिंह-मुखौटा)।

भौंहो के अतर्स्यदन से उनके पार्श्व लोम स्थायी तौर पर झड जाते है। चेहरे और हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो के अतिरिक्त अतर्स्यदन धड के कुछ चर्म-क्षेत्रों और आतर अंगों को भी ग्रस्त कर ले सकता है। धब्बो और अंतर्स्यदो के अतिरिक्त दियासलाई के सिर या मटर के बराबर पर्विकाए (कुष्ठार्ब) भी उत्पन्न हो सकती है। इनका रंग ललछौंह भूरा या ललछौंह बैगनी होता है, जो बाद मे सहवर्ती रक्तस्रावी घटक के कारण जंक जैसी आभा भी ग्रहण कर सकता है। कर्ण-पालि और हाथ-पैर के दूरस्थ खंडो पर कुष्टार्ब ललछौंह नीले होते है। पर्विकाओ की सतह चमकदार और चिकनी होती है, मानो उस पर तेल लेपा गया हो। पर्विकाए व्रणित भी हो सकती है।

विरचनरत व्रणों की किनारियां कठोर होती है, कभी-कभी शोफित और बिल्कुल उभरी हुई होती है। इनसे रक्तिल स्राव होता है, जिसमे असख्य कुष्ठ-बासिल होते है। व्रण क्रमश कणीकृत ऊतको से भर जाते है और क्षताकित हो जाते हैं। पर्विकाएं और अतर्स्यदन भी व्रणित होते है और अपेक्षाकृत विरलत बिना व्रणन के ही अपचोषित हो जाते है (ऐसी स्थितियो मे छोटे सतही क्षताक रह जाते है)। जो व्रण बनते हैं, वे बड़े होते है और पेशियो और अस्थियो को भी प्रक्रिया की चपेट मे ले लेते हैं। इन स्थितियो मे अस्थि-संधियो व छोटी अस्थियों का विनाश और बडी-बड़ी विकृतिया देखने में आ सकती है।

अधिकांशत नाक की श्लेष्मल झिल्ली ही रोग-प्रक्रिया से ग्रस्त होती है विशेषकर वह जो विभाजक भित्ति की उपास्थिक भाग को आच्छादित रखती है

रोग के आरभ-काल मे कुष्ठ के वासिल इसी क्षेत्र की खुरचन मे मिलते है।

नाक की विभाजक भित्ति की श्लेष्मल झिल्ली की आक्रांति ललामी, अतर्स्यदनो, नासा-स्राव और पटलित खड्डियो द्वारा लंछित होती है, जो चिरकालिक कुष्ठजनित नासाशोथ का चित्र प्रस्तुत करती है। नाक की विभाजक भित्ति के उपास्थिक भाग मे अतर्स्यदन का आगे विकास होने पर व्रणन और विनाश सभव है। ऐसी स्थिति मे नाक म लछक विकृति उत्पन्न होती है, उसकी नोक थोडी ऊपर को उठी होती है।

विसरित अतर्स्यदन और कुष्ठार्ब जीभ, मृदु व कठोर तालू पर भी अवस्थित हो सकते हैं, जो कठ (हलक) और स्वर-यंत्र की श्लेष्मल झिल्लियो पर फैल जाते हे। इसके फलस्वरूप स्वर मे कर्कशता और यहा तक कि स्थायी स्वरहानि (नि शब्दना) भी विकसित हो सकती है—परिकंठद्वार और स्वरयत्र की श्लेष्मल झिल्लियो के क्षताकन के कारण।

कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ-रोगियों की आंखों मे युतिकाशोथ, परितारिकाशोथ, श्वेतपटलशोथ भी पाये जा सकते है। कुष्ठाबिक शृंगिकाशोथ की चिकित्सा न करने पर शृंगिका के अंतर्स्यादित, अपारदर्शक और क्षताकित होने के कारण अधापन भी विकसित हो सकता है।

लसपर्व (विशेषकर जाघ और जघामूल के, विरलतः गरदन के, कनपटी के, अवकाक्षिक और काक्षिक) बडे हो जाते हैं (बेर के आकार के); उनकी सरचना कठोर-प्रत्यास्थ हो जाती है, उनमे दर्द नही होता और वे सुचल (हिलने-डुलने वाले) हो जाते है।

नर्वतत्र अक्सर चपेट में आ जाता है। इसमें जो परिवर्तन होते हैं, उन्हे औपचारिकत: दो ग्रुपो मे बांटा जा सकता है—पहला केद्रीय नर्वतत्र की सामान्य गडबडियो में, जो विभिन्न तीव्रताओ की नर्वक्लेशिक प्रतिक्रियाओ मे व्यक्त होती हे, कुछ स्थितियों मे नर्वक्लेश और मनोक्लेश भी विकसित हो सकते है, दूसरे—परिसरीय नर्वतंत्र की आक्रांति, जिसमे नर्वशोथ और बहुनर्वशोथ विकसित हो जाता है। अधिकाशतः कफोणिक (कोहनी के), कर्णिक (कान के) और छोटी टगास्थिक नर्व ग्रस्त होते है। नर्व मोटे हो जाते है और तदनुरूप स्थलो पर परिस्पर्शित हो सकते है। केद्रीय और मुख्यत: परिसरीय नर्वतत्र की आक्राति से सवेदनतत्रीय, कुपोषी और गतिप्रेरक (मोटर) गडबडिया उत्पन्न हो सकती हैं।

कुष्ठार्बिक कुष्ठ मे सवेदन-तत्र की गडबडियां काफी देर मे उत्पन्न होती है, बनिस्बत कि गठिवत प्रकार के कुष्ठ मे। सवेदी नर्व-सिराओ की आक्राति द्वितीयक प्रकृति की होती है और प्राथमिक रूप से उत्पन्न कोशिकीय द्वारा सपीडन के उत्पन्न होती है पहले स्थायी मर्मभेदी नर्वशूल विकसित

होना है, फिर तदनुरूप चर्मक्षेत्रों पर अतिसवेदना, परिसवेदना, विकृत सवेदना और क्षोभ के प्रति अपर्याप्त प्रतिक्रिया होती है (ठड की जगह गर्मी महसूस होती है और गर्मी की जगह ठंड, अपरिस्थितिज प्रतिवर्त विलबित हो जाता है)। अतिसवेदना और प्रतिसवेदना का स्थान बाद में अनसवेदना और अनपीड़ा ले लेती है। हाथ पेर के कुछ खडों में और धड में तापीय अनसंवेदना और अनपीडा के कारण कभी-कभी झुलसन हो जाती है जिसे रोगी महसूस नहीं कर पाता। कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ मे स्पर्श-सवेदना की गड़बडिया विरले ही होती है—ये रोग के अगले चरण मे होती हैं।

कुपोषी गडबडियो के कारण कुष्ठ के रोगी में वर्णकता से संबधित गडबडिया उत्पन्न होती है और तीव्र क्लिष्टताएं उत्पन्न हो जाती है, जैसे हाथ-पैर का अपग होना। हाथ और पैर के अस्थि-पजर अलग होने लगते है, नख नष्ट हो जाते है ओर स्पष्ट कुपोषी गडबडियो के रूप में विकृत हो जाते है। हस्तपुच्छ (हाथ का कलाई से उगलियो तक का भाग) और गोड़ मुलायम हो जाते हैं और सील मछली या मेढक के पैर की तरह दिखने लगते है। कुपोषी गडबडियो के कारण वपाल एव स्वेदजनक ग्रंथिया अपसामान्य रूप से काम करने लगती है। उनकी अतिक्रिया बाद मे अवक्रिया मे परिणत हो जाती है और स्वेद व वपा का स्राव बिल्कुल बद भी हो सकता है, त्वचा शुष्क होकर फटने लगती है। माइनर (Minor) का परीक्षण रोगी में धनात्मक हो जाता है (टिचर आयोडीन लेपे हुए चर्म-क्षेत्र पर स्टार्च लेप कर गर्म शुष्क वात-कक्ष में रखने मे वह नीला नही होता, क्योंकि स्वेद-ग्रथिया काम नही करतीं)।

परिसरीय नर्वतन्त्र की क्षति के कारण गति व्यवधानित हो जाती है। आकुंचक तानता हावी रहती है, क्योंकि हस्त-पुच्छ, गोड, फिर प्रबाहु और टाग की ऋजुकारी पेशियों मे अनियमित कुपोषण होता रहता है। हाथ और पैर की उगलियां अशत और असमान रूप से आकुंचित (मुडी हुई) रहती है (चिडिया के पजे की तरह हाथ और घोडे की तरह पैर)। हथेली के पीछे अतरास्थिक अवकाश वक्रित हो जाता है, क्योंकि छोटी पेशिया सुखोरीग्रस्त हो जाती है। हथेली पर अंगूठे के नीचे की गद्दी (थेनार) और अवथेनार की पेशिया भी सुखोरीग्रस्त (कुपोषित) हो जाती है, जिससे हथेली चपटी (चौरस) हो जाती है और बदर की हथेली जैसी लगने लगती है।

आख की पेशियो के कुपोषण के कारण आखे अधमुंदी रहती है (खरहे की आख)। ये रोगी आखो को स्वत स्फूर्त रूप से बंद नहीं कर पाते। चेहरे के नर्वो के ग्रस्त होने के कारण भावो को अभिव्यक्त करने वाली पेशियो का कुपोषण होता है, जिससे चेहरे पर एक उदासी का मुखौटा-सा चढ जाता है। ('सत अटोनी का मुखौटा')
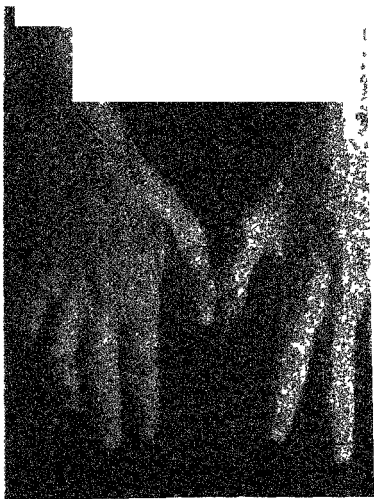
पेशी-कुपोषण (सुखोरी) से उगलियो का अवकुचन

कुष्ठ-रोगी को ऊपर वर्णित सवेदक, गतिप्रेरक तथा कुपो
तीव्रताओ के साथ भिन्न सम्मेलो मे हा सकती हे। साथ-साथ केद्र
गडबडिया होती है।

कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ मे विभिन्न आतर अग भी
क्लोम, यकृत ओर प्लीहा वर्धित हो जाते है और पहले कठोर हो
गडवडियो का तल्पिक चित्र कुष्ठ के लिये विशिष्ट नही होता। रा
चर्म और श्लेष्मल झिन्ली की विशिष्ट क्षति के तल्पिक चित्र
बाक्तेरीदर्शन द्वारा निर्धारित होता है, खुरचन निम्न स्थलो से ि
की विभाजक भित्ति, क्षताकन से प्राप्त ऊतक-रस और बायोप्सी
लसपर्वो के भी परीक्षण स रोग-निर्धारण हो सकता है, जो वर्धि

कुष्ठ के नर्वतत्र ओर आतर अगो की आक्राति के अ
ग्रथियो की क्रिया मे भी गडबड़ी नजर आती है। यह निम्न लक्ष

ह—समय से पहले बूढा होना (उम्र स बडा लगना), स्त्रियो मे समय से पूर्व रजोनिवृत्ति, पुरुषो की यौन सक्रियता मे ह्रास, यहा तक कि नपुसकता भी। कुछ रोगियो मे दोतरफे कुष्टज वृषणशोथ तथा परिवृषणशोथ और इसके बाद उनक कठोरन के फलस्वरूप शुक्राणु निर्जीव हो जाते हैं। इन स्थितियो मे स्त्री का बध्यापन पति के वीर्य मे शुक्राणुओं की अनुपस्थिति के कारण होता है।

कुष्ठ-पर्विका का ऊतगदलोचन—सुचर्म मे योजक ऊतको की परतो के बीच से लेकर पिटिकामय परत तक केशिकीय अतर्स्यदन का स्थानीय सचय पाया जाता है। ये अंतर्स्यदन उपकलावत कोशिकाओ, लमकोशिकाओ, रेशांकुरो, प्लाज्मा-कोशिकाओ, अल्प मात्रा मे ऊतकोशिकाओ और विर्खोव-दानिएल्सेन-निरूपति कुष्ठ कोशिकाओ से बने होते है। अतिम जो कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ के लिये विशेष लछक होते हैं, ये बडी गोली जैसी कोशिकाए है, जिनका प्रोटोप्लाज्म हल्का फेन जैसा होता है, नाभिक एक या कई हो सकते है। इनमे कुष्ठ के अनेक बासिल और बासिलो के अपघटन-द्रव्य की गोलिया सिगार के रूप मे व्यवस्थित होती है। कुष्ठ के बासिल ट्सील-नील्सेन की विधि से सरलतापूर्वक रजित हो जाते है और अतर्स्यदो में बहुत बडी मात्रा मे होते है—कोशिकाओ के भीतर भी और बाहर भी, साथ ही लसीय झिर्रियो और कुभिक फाको के बीच भी। योजक ऊतकों के रेशे (कोलाजनी और प्रत्यास्थ) अतर्स्यदन के क्षेत्र मे श्लथ (ढीले-ढाले) हो जाते है, जगह-जगह खुरचनों जैसी स्थिति दिखने लगती है, लेकिन अंतर्स्यदन और परिचर्म के बीच तथा अतर्स्यदन-केंद्रो के बीच ये रेशे पूर्ववत बने रहते है। स्वेदक ओर वपाल ग्रथिया कुपोषित हो जाती है।

निदान मे यह महत्त्वपूर्ण है कि पहले चर्म और श्लेष्मल झिल्ली पर रोग की रूपलोचनी अभिव्यक्तियो का ही अध्ययन किया जाये, क्योकि नर्वतन्त्र और विशेषकर आंतर अगो की आक्रातिया किसी खास प्रकार के कुष्ठ के लिये विशिष्ट (लछक) नही होती। इसके बाद आक्राति-केंद्रों की गदोतलोचनी मरचना और लेप्रोमिन के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया (लेप्रोमिन परीक्षण) का अध्ययन करना चाहिए। लेप्रोमिन परीक्षण मे प्रबाहु की आकोचनी (मोडने वाली) सतह मे अतर्चर्मि सुई दी जाती है—पिसे हुए कुष्ठार्बिक ऊतक से प्राप्त 0 1 मिलीमीटर लेप्रोमिन की, क्योकि इन ऊतको मे हैसेन के प्रारभिक प्रतिक्रिया के रूप मे सुई के बाद 24 से 48 घटे में रक्तस्फीति और शोफ विकसित होता है। विलबित धनात्मक प्रतिक्रिया मे दो-चार सप्ताह बाद सुई के स्थल पर एक पर्विका बन जाती है, जिसका आकार 1 0-1.5 सेंटीमीटर होता है, पर्विका में व्रणन की प्रवृत्ति होती है। विलबित धनात्मक प्रतिक्रिया अनुकूल भविष्यवाणी का लक्षण है। लेप्रोमिन के प्रति प्रारभिक और विशेषकर [illegible] प्रतिक्रिया भविष्यवाणी का लक्षण है क्योकि यह शरीर

की इमूनोजीवलोचनी, रक्षी शक्तियो की जनूजिता और कमजोरी को प्रतिबिंबित करता है।

कुष्ठाविक प्रकार का कुष्ठ ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण तथा नाक की विभाजक दीवार के उपास्थिक भाग की श्लेष्मल झिल्ली मे विपुल सख्या म हेसेन-बासिलो की प्राप्ति द्वारा लछित होता है। गदलोचनी द्रव्य प्लेटिनम की स्पेचुला (छलनी) या पाश से खुरची जाती हे और स्लाइड पर लेप उसे ट्सील-नीलसेन विधि से रजित करके बनाया जाता है। ऊतक-रस मे अनेक बासिल अनुवेदित होते हे, ऊतक-रस क्षतिग्रस्त क्षेत्र के चर्म को क्षतांकित करके प्राप्त किया जाता है। ये रोगी बहुत ही छुतहे होते है।

गंठिवत प्रकार का कुष्ठ

यह कुष्ठ कही अधिक सुदम प्रवाह द्वारा लछित होता है। चर्म और परिसरीय नर्वो की आक्राति हावी रहती है। चर्म-क्षतियां तीक्ष्ण परिसीमित वर्णकहीन श्वित्र जैसी चित्तियो से या चमकीली ललछौंह नीली चित्तियो से लछित होती है, जिनके मध्य मे पीलापन (विवर्णता, फीकापन) होता है। चित्तियो के परिसर मे बैगनी आभा की चौरस और कठोर बहुभुजी पिटिकाओं की विशेष प्रकार की सीमा होती है। पिटिकाए संगम करके ललछौंह बैंगनी या ललछौंह भूरी चौरस चकतिया बनाती हैं। ये आकार मे भिन्न होती है और कही-कही वलयाकार आकृतिया बनाती हैं। इन चकतियों के मध्य में निवर्णकता और कुपोषण का धीरे-धीर विकास होता है।

प्रारंभिक चरण मे पीड़ा और तापक्रम के प्रति संवेदिता और कुछ बाद मे स्पर्श की सवेदिता से संबधित गड़बडिया गठिवत कुष्ठ के लिये अत्यत लछक विशेषता है। श्वित्रग्रस्त रोगियों में, इसके विपरीत, इस प्रकार की सवेदिताओ को कोई क्षति नहीं पहुचती। इसके अतिरिक्त, श्वित्र के विपरीत कुष्ठ मे तनु 1 1000 हिस्टामीन के 0 1 मिलीलीटर की अंतर्चार्मि सुई से वर्णकहीन चित्ति के क्षेत्र में ददौरे के गिर्द प्रतिवर्त-रक्तस्फीति सप्रेरित नही होती। ग्रस्त परिसरीय नर्व मोटे हो जाते हैं और गुलाब की तरह के सूजनो वाले स्थलो पर तनी हुई रस्सियो की तरह परिस्पर्शित होते है।

लेकिन गंठिवत कुष्ठ मे नर्व के तनो (बड़ी शाखाओं) की आक्राति ऐसी अभिव्यक्तियां उत्पन्न करती है, जो कुष्ठाविक नर्वशोथ और बहुनर्वशोथ से बहुत हल्की होती है। चर्म के उपागों की आक्रातिया (बालो का झड़ जाना, ग्रस्त क्षेत्रो मे स्वेद-स्राव की गडबडिया आदि) इस प्रकार के कुष्ठ के लिये विशिष्ट है।

आतर अगो और अतस्रावी ग्रंथियो की आक्राति अपेक्षाकृत कम होती है

और स्थिति सुदम होती है।

लेप्रोमिन-परीक्षण धनात्मक विलवित प्रतिक्रिया द्वारा लक्षित होता है।

पिटिका का ऊतगदलोचन—सुचर्म के ऊपरी भाग मे मुख्यत. पराकुभिक अनर्स्यदन मिलता है, जो लसकोशिकाओ, अल्पसंख्या मे ऊतकोशिकाओ व उपकलावत कोशिकाओ और सामान्य मात्रा मे रेशाकुरो से बना होता है। अल्प सख्या मे बासिलो से युक्त कुष्ठ-कोशिकाएं (ये विशाल प्रकार की कोशिकाएं है) बहुत कम होती है, या बिल्कुल अनुपस्थित होती है। अतर्स्यदन में कुष्ठार्बिक कुष्ठ की अपेक्षा कम सख्या मे हैसेन-बासिल होते है। कभी-कभी तो वे बिल्कुल ही अनुवेदित नही होते, फिर भी उग्रता-काल में उनकी सख्या बहुत बढ सकती है।

अनिश्चित प्रकार का कुष्ठ

अल्प संख्या मे फीके धब्बो की उपस्थिति से, जिनकी सीमाए अस्पष्ट होती है, मापे और परिरेखाए भिन्न होती है, निदान कठिन हो जाता है। ऐसे रोगियो मे हैसेन के बासिलो का अनुवेदन विरले ही होता है। गदोतलोचनी चित्र मे सामान्य प्रकार के अविशिष्ट अतर्स्यदन दिखते है, जो विभिन्न प्रकार के चिरकालिक चर्मक्लेशो में भी मिलते है। अतर्स्यदों मे कुष्ठ के कोई बासिल नही मिलते। इस प्रकार का कुष्ठ कम छुतहा होता है, रोगी की सामान्य अवस्था अक्सर अच्छी होती है, वह अपने को महसूस भी अच्छा करता है। अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ में चर्म के अतिरिक्त परिसरीय नर्वतत्र भी आक्रांत होता है। इसके विशिष्ट नर्वशोथ मे श्वान्न (Schwann) की झिल्ली मोटी हो जाती है, परिनर्व (नर्व-आवरण) मे गोल कोशिकाओं का अतर्स्यद संचित हो जाता है और कुछ नर्व-बडलों में कुष्ठ के सायोगिक बासिल्न भी मिल जाते हैं।

बहुनर्वशाथ का तात्पिक चित्र वैसा ही होता है जैसा गठित प्रकार के कुष्ठ मे, लेकिन गति-प्रेरण (मोटर), कुपोषण और सवेदनाओ से सबंधित गड़बडिया (कुपोपज व्रण, चिडिया के पजे की तरह हाथ, घोडे की तरह के पैर का बनना) बहुत तीव्र हो सकती हैं। हैवाना मे गृहीत वर्गीकरण से पहले इस प्रकार के कुष्ठ को चित्तीग्रस्त अनसंवेदक या कुष्ठ का नार्विक रूप कहते थे।

अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ से ग्रस्त रोगी मे लेप्रोमिन की प्रतिक्रिया भिन्न हो सकती है। ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण वाले रोगी मे इस प्रकार का कुष्ठ कुष्ठार्बिक प्रकार के संक्रमण कर सकता है। धनात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण अनुकूल भविष्यवाणी का लक्षण है। इस स्थिति मे सिर्फ गंठिवत प्रकार के कुष्ठ मे सक्रमण सभव है।

मिश्र या दुरूपिया प्रकार का कुष्ठ बच्चों मे (मुख्यत. तीन या इससे अधिक उम्र के बच्चों में) अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है बनिस्बत कि वयस्को में इसम

एक साथ विशिष्ट कुष्ठार्विक एव गठिवत आर अनिश्चित प्रकार क कष्ट म सबधित गदलोचनी परिवर्तन प्रेक्षित होते हे। इसके अतिरिक्त, बच्चो मे कुष्ठ पार्विक ललामी के रूप मे भी व्यक्त हो सकता हे।

विभेदक निदान सीफिलिस और गठिक्लेश के साथ किया जाता है।

चिकित्सा—कुष्ठ-रोगियो की चिकित्सा अभी मुख्यत सुल्फोन (sulphone) दवाओ से ही होती है। इसके अतिरिक्त थिओयूरिया के व्युत्पाद (एथोक्सीडुम) या एथिलमेर्काप्टान के यौगिको (एटीसुल), खाउलमूग्रा (चालमूग्रा) के प्रसाधन (खाउमूग्रा तेल और मुग्रोल) और इजोनिकोटीनिक अम्ल हाइड्राजीड (एथिओनामीड) भी प्रलिखित किये जाते है।

डिआमीनोफेनिलसुल्फोन (DDS) और इसके उत्पाद मुख्य एटीकुष्ठ साधन है।

DDS, आव्लोसुल्फोन और डाप्सोन दो सप्ताह तक दिन में दो बार दिये जाते है (रविवार को छोडकर), एक खुराक 0.05 ग्राम होती है। इसके बाद 6 महीने तक नित्य 0 1 ग्राम की खुराक दो बार दी जाती है।

सुल्फेट्रोन के 50 प्रतिशत साद्र घोल की अतर्पेशीय सुई सप्ताह मे दो बार दी जाती है; प्रथम सप्ताह मे 0.5 मिलीलीटर, दूसरे सप्ताह मे 1 0 मिलीलीटर, तीसरे सप्ताह में 1 5 मिलीलीटर, चौथे सप्ताह मे 2.0 मिलीलीटर, पांचवे सप्ताह मे 2.5 मिलीलीटर और छठे सप्ताह मे 3 0 मिलीलीटर, सातवे और आगे के सप्ताहों मे 3 5 मिलीलीटर। चिकित्सा छः महीनों मे 50 सुइयो से होती है।

हाल मे एक नया एटीकुष्ठ साधन डिउसीफोन सश्लिष्ट किया गया है। मुख्य एटीकुष्ठ दवा DDS की तुलना में इसकी गरलता एक चौथाई है और लबे समय तक देने पर भी कोई अवांछनीय प्रभाव नही उत्पन्न होते जैसा कि अक्सर सुल्फोनो के उपयोग से होता है। इस नयी दवा का 0 1-0 2 ग्राम दिन मे तीन से पाच बार मुख मार्ग से दिया जाता है या इसके 5 प्रतिशत साद्र घोल का 5 मिलीलीटर नित्य अतर्पेशीय सुई द्वारा दिया जाता है।

सुल्फोन की दवाएं यकृत एव वृक्क के कार्यो में तीव्र एवं स्थायी गडबडिया होने पर प्रतिसंकेतित है; वे रक्तोत्पादक अंगों, हृत्कुभिक तंत्र की अपूर्त्ति, तीव्र जठरांत्र-रोगो और केंद्रीय नर्वतत्र के आतरिक रोगो मे भी हानिकर है।

सुल्फोनो के अवांछनीय प्रभाव निम्न हैं—अनपच, सिरदर्द, चक्कर, गरलताजनक चर्मशोथ और कुछ स्थितियो मे अवरगी रक्ताल्पता तथा यकृतशोथ। जब ये विकसित होते हैं, खुराक घटा दी जाती हे या कुछ समय के लिये दवा रोक दी जाती है।

तीव्र मृदूतकीय यकृतशोथ में सुल्फोन दवाए रोक दी जाती है और बिस्तर

म पूर्ण विश्राम, वसा और मसालों पर रोक (आहार मे), विटामिन B_{12} और B आस्कोर्बिक तथा नीकोटीनिक अम्ल, ग्लूकोज, अल्कोहल, मेथिओनीन और तीव्र स्थितियो में कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन (बच्चे की दैनिक खुराक 1 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम) प्रलिखित किये जाते हैं।

अवतीव्र या चिरकालिक यकृतशोथ से ग्रस्त कुष्ठ रोगी को सुल्फोन सावधानी के साथ अल्प खुराकों मे दिये जाते है और यकृत के कार्य का नियमित रूप स परीक्षण किया जाता है। यकृत का कार्य सुधारने वाली औषधियां (विटामिन, B_{12} और B_{15} नीकोटीनिक अम्ल, लीपोकेन के साथ मेथिओनीन, ग्लूकोज, खोलोजास, आल्लोखोल आदि) और सही आहार प्रलिखित किया जाता है।

रक्तात्पता की चिकित्सा लौह प्रसाधनो (हेमोस्टीमूलिन, अवकृत फेरस लेक्टेट आदि), विटामिन B_{12} विटामिन बी-सकुल, आस्कोर्बिक अम्ल, आखडित (अशो मे) रक्ताधान आदि से की जाती है।

'सीबा-1906' और एथोक्सीडुम—ये थिओयूरिया के व्युत्पाद है और सुल्फोनो की तुलना मे कम गरलकारी है। 'सीबा 1906' (थिओकार्बोनीजीड) नित्य एक वार मुखमार्ग से सोमवार से शनिवार तक दिया जाता है—पहले व दूसरे सप्ताह मे 0.5 ग्राम, तीसरे से छठे सप्ताह तक 1.0 ग्राम, सातवे से बारहवें सप्ताह तक 2 5 ग्राम और इसके बाद चिकित्सा के अत तक 2.0 ग्राम। पूरी चिकित्सा 40 सप्ताह चलती है (रविवारो को छोडकर); इसके बाद महीने का विराम किया जाता है।

एथोक्सीडुम मुखमार्ग से नित्य तीन बार दिया जाता है—प्रथम सप्ताह 0 1 ग्राम की खुराकों मे, दूसरे सप्ताह 0.2 ग्राम की और तीसरे सप्ताह से 0.3 ग्राम की खुराको में। जब दवा अच्छी तरह सहन होने लगती है, तब कुछ रोगियो के लिये 21वें सप्ताह से एक खुराक की मात्रा 0 5 ग्राम तक बढा दी जाती है। चिकित्सा 40 दिन तक चलती है (रविवारो को छोडकर) और इसके बाद एक महीने का विराम किया जाता है।

एटीसुल (एथिलमेर्काप्टान ग्रुप का एक यौगिक) सुल्फोनो के चिकित्सकीय गुणो मे स्पष्ट वृद्धि करता है। 5 ग्राम की खुराक बारी-बारी से बाहो, वक्ष, पेट ओर पीठ की त्वचा मे मली जाती है (सप्ताह मे तीन बार), बालो वाले चर्म-क्षेत्र और चेहरे की त्वचा को अछूता रखा जाता है। एटीसुल की जगह 10 प्रतिशत सान्द्र सुल्फेट्रोन-मलहम भी प्रयुक्त हो सकता है। मलने का काम हर बार 20 मिनट तक चलता है, इसके बाद त्वचा को एक घटा तक अनावृत छोड देते हैं, फिर फुहार मे स्नान कराया जाता है। साथ-साथ DDS (या आव्लोसुल्फोन) भी प्रलिखित किया जाता है 100 मिलीग्राम नित्य एक बार (चार सप्ताह तक) अच्छी सहनशीलता

होने पर इसकी खुराक 200 मिलीग्राम तक बढायी जा सकती है (आधी मात्रा सुबह और बाकी शाम को), लेकिन यह काम पाचवे सप्ताह से ही किया जाता है। चिकित्सा छ महीने तक चलती है।

चालमूग्रा के प्रसाधन—इसका तेल और इसके तेल का एथिल ईथर (मुग्रोल) सुल्फोन-चिकित्सा के दौरान या चिकित्सा के बीच विराम-काल में सहायक साधना की तरह प्रयुक्त होते है। चालमूग्रा के प्रसाधन अतर्चार्म सुई द्वारा सप्ताह मे दो बार दिये जाते है, पहली बार सुई से 0 5-1 0 मिलीलीटर दी जाती है, फिर प्रत्येक सुई मे 1 0 मिलीलीटर बढाते हुए कुल मात्रा 5 0 मिलीलीटर तक पहुंचायी जाती है। इसका दौर कुल 30 सत्र में प्रत्येक सत्र में दस से 100 अंतर्चार्म सुइया दी जाती है (1.0 मिलीलीटर की मात्रा 20 सुइयो मे दी जाती है, ताकि त्वचा का क्षेत्र नारगी के छिलके जैसा दिखने लगता है)। सत्रो के बीच एक-एक महीने का विराम रखा जाता है। दवा का सुई द्वारा आधान पहले चर्म के ग्रस्त क्षेत्रों में होता है, फिर उन क्षेत्रो में, जो सामान्य दिखते हैं। जिस क्षेत्र की चिकित्सा की जाती है, वहा फिर सुई कम-से-कम एक महीना बाद ही लगानी चाहिए।

एथिओनामीड आइसोनीकोटिनिक अम्ल का एक प्रसाधन है। इससे चिकित्सा का एक दौर छः महीनों तक चलता है। टिकियां भोजन से एक घंटा पहले ली जाती है और ऊपर से पानी (अक्षारीय) पिया जाता है। पहले नित्य 0 25 ग्राम लिया जाता है, फिर पाच दिनो में खुराक 0.5 ग्राम तक बढायी जाती है (दिन मे दो बार आधा-आधा)। यदि दवा अच्छी तरह सहन हो जाती है, तो दैनिक खुराक 0 75 ग्राम तक बढाई जाती है। (दिन मे तीन बार 0.25 ग्राम)। यह 11वे दिन से किया जाता है। 50 किलोग्राम भारी रोगियों की और बड़े बच्चों की दैनिक खुराक 0 5 ग्राम से अधिक नही होनी चाहिए।

दवा का चुनाव और खुराक की मात्रा हर व्यक्ति के लिये अलग-अलग उसके शारीरिक गुणों के आधार पर होनी चाहिए। ऊपर प्रस्तावित खुराके (एक, दैनिक और पूरी चिकित्सा के दौर की) वयस्कों के लिये है। बच्चो के लिये ये खुराकें उम्र और शरीर के भार के अनुसार होनी चाहिए; शरीर की सामान्य अवस्था और प्रतिकारिता, रोग के विकास-चरण और कुष्ठ-प्रक्रिया की प्रकृति को भी ध्यान में रखा जाता है।

चिरकालिक एव अंतरालयुक्त चिकित्सा-विधियों की सलाह दी जाती है। दवा के प्रति अभ्यस्तता को रोकने के लिये उसे बदलते रहते है या विभिन्न एटीकुष्ठ प्रसाधनो का मेल प्रयुक्त करते है (दो या अधिक-से-अधिक तीन दवाओ का इस प्रकार प्रयोग होता है कि कुल खुराक ज्यों-की-त्यो रहे। परस्पर सबधित दवाओं को निश्चय ही एक साथ नहीं प्रलिखित करना चाहिए (जैसे सुल्फोन और

DDS, 'सीबा-1906' और एथोक्सीड्रम को एक साथ देना निरर्थक है)।

चिकित्सा की अवधि दवा के प्रति सहनशीलता, रोग के प्रकार और चरण, रोगी की अवस्था आदि घटको पर निर्भर करती है।

एंटीकुष्ठ चिकित्सा के साथ-साथ सामान्य स्फूर्तिदायक युक्तियो का सकुल ओर विटामिनो से भरपूर पर्याप्त एवं विविध आहार भी प्रयुक्त होता है। हाल मे कुष्ठ की चिकित्सा की विशिष्ट दवाओं के साथ-साथ इनकी रासायनिक चिकित्सकीय प्रभाव को बढाने वाले प्रसाधनो का भी सफलतापूर्वक उपयोग हो रहा है। इनमे निम्न नाम आते हैं—4-मेथिलउरासिल (मेथासिल) और पेटोक्सिल। जब भी आवश्यकता होती है, अंगसोझक, करोर्जिक, नेत्रलोचनी और कर्णकठलोचनी सहायता भी दी जाती है, आतर रोगो की चिकित्सा की जाती है।

सफाई और हाइजिन की उचित परिस्थितिया बनाये रखना, रोगी को व्यक्तिगत हाइजिन के नियम समझाना, सही दिनचर्या का पालन करना ओर यह विश्वास दिलाना की वह पुन: स्वस्थ हो जायेगा, ये सभी बातें अत्यत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अल्कोहलिक पेय वर्जित है।

निरोध—जिस क्षेत्र से रोगी आया है, वहा के सभी निवासियों का परीक्षण करना चाहिए। जो लोग रोगी के सपर्क मे लबे समय से थे, उनकी विशेष रूप से जाच होनी चाहिए। इन लोगों और खासकर सगे-संबंधियो का लेप्रोमिन-परीक्षण अवश्य होना चाहिए (पूर्ण तल्पिक परीक्षण और नासा-विभाजक भित्ति की खुरचनो का परीक्षण भी करना चाहिए)। ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण वाले लोगो का सावधानी से परीक्षण करना चाहिए और निरोधक चिकित्सा देनी चाहिए।

यह ध्यान में रखते हुए कि गर्भाशय मे स्थित बच्चा मा से कुष्ठ नही प्राप्त करता, वह जन्म के बाद मा के संसर्ग से इसे प्राप्त करता है, बच्चे को जन्मोपरात तुरत रोगी मां-बाप से अलग कर देना चाहिए।

जिस इलाके में कुष्ठ-रोगी अनुवेदित होता है, वहां के सभी लोगों को प्रतियक्ष्मा टीका और BCG-टीका (काल्मेट-गेरीन टीका) दी जाती है। सभी ज्ञात रोगियो को एक पृथक्कृत कुष्ठाश्रम मे रखना चाहिए, जहा उन्हें कारगर चिकित्सा दी जा सके। एंटीकुष्ठ प्रतिष्ठान से रोगी को छुट्टी देने के सुसंकेत सोवियत सघ के स्वास्थ्य मंत्रालय के विशेष आदेश (28 मई, 1962) मे निर्दिष्ट है।

लोगो की जीवन-परिस्थितियों, सामाजिक कल्याण व स्वास्थ्य-सेवा मे निरतर उन्नति विभिन्न रोगो के निरोध में एक महत्त्वपूर्ण घटक है, जिनमे कुष्ठ भी एक हे।

चर्म-यक्ष्मा (चर्म-गंठिक्लेश)

सामान्य सूचनाएं

चर्म-यक्ष्मा सभी देशों में पाया जाता है। गठिक (tuberculous) रोग एक विशेष ग्रुप बनाते है, जो तल्पिक व रूपलोचनी विशेषताओं और परिणामों में भिन्न होते है। अधिकाश के लिये चिरकालिक एव पुनरावर्ती प्रवाह विशेष लक्षण है।

हेतुलोचन—यक्षमा (गठिक्लेश—tuberculosis) उत्पन्न करने वाले कवकी बाक्तेरियों की खोज रोबर्ट कोख ने 1882 मे की थी।

गठिक्लेश उत्पन्न करने वाले कवकी बाक्तेरी या मीकोबाक्तेरी (मीकोबाक्तेरिउम टुबेरकुलोसिस, सक्षेप मे मी-यक्ष्मा) बहुरूपी होते हैं, इनके विकासचरण विविध हैं। ये धागे जैसे, छडी जैसे (वासिल), गोल और अतर्स्यद होते हैं। ये एसिड-फास्ट और ग्राम धनात्मक होते है, इनकी लबाई 2-4 मिक्रोमीटर और चौडाई 0 2-0.6 मिक्रोमीटर होती है, इनका कैप्सूल नही होता, ये स्पोर नहीं बनाते। मी-यक्ष्मा ट्सील-नील्सेन की विधि से रंजित होते हैं; ये वातजीवी हैं और विभिन्न माध्यमो मे जी सकते है। शुष्क (सूख गये) थूक में भी ये कई सप्ताह तक जीवनक्षम रहते है। 5 प्रतिशत साद्र फेनोल-घोल को उतने ही थूक मे मिलाने पर वे सिर्फ छः घंटे के बाद ही मरते है।

सिर्फ तीन प्रकार के मी-यक्ष्मा आदमी के लिये गदजनक महत्त्व रखते है—मानुषी (typus humanis), मवेशिक (गाय-बैल के, typus bovinus) और वातीय (typus avium)। मानुषी मीकोबाक्तेरी चर्म-गठिक्लेश के अधिकेद्रो में सबसे अधिक पाये जाने वाले जीवाणु है, मवेषिक अपेक्षाकृत कम अनुवेदित होते हैं (एक चतुर्थांश से पचाश केसो में) और वातीय प्रकार के जीवाणु बहुत विरले ही पाये जाते है।

गंठिक्लेश के अन्य रूपो (क्लोमिक, अस्थीय) की तुलना मे चर्म की गठिक क्षतियां बहुत विरल है। जीवन-परिस्थितियो तथा स्वास्थ्य-शिक्षा की उन्नति और चिकित्सा व निरोध की उपलब्धियो के कारण सोवियत सघ में अब चर्म-गठिक्लेश एक विरल रोग है। यह भी उल्लेखनीय है कि चर्म के प्राथमिक गठिक्लेश (प्राथमिक गंठिक कठव्रण और तीव्र वर्जरिक गठिक्लेश) पहले भी विरल थे। चर्म-गंठिक्लेश उन्ही लोगो में विकसित होता है, जिन्हें पहले कभी गठिक्लेश हुआ होता है, या जो शरीर के अन्य अगो या तंत्रों के गठिक्लेश से ग्रस्त होते है।

गदजनन—चर्म की गठिक क्षतियो के विकास की युक्ति का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नही हुआ है। ऐसी धारणा है कि सामान्य चर्म मी-यक्ष्मा की जीवन-क्रियाओ के लिये अनुकूल माध्यम नहीं है, सिर्फ विशेष परिस्थितियो मे ही चर्म की गंठिक आक्रांति संभव है। निम्न घटकों को कुछ हद तक महत्त्वपूर्ण माना

जाता है—हर्मोनिक अपक्रिया, नवतंत्र की अवस्था, विटामिन-संतुलन की अवस्था शरीर में जल और खनिजों का विनिमय, कुंभिक गड़बड़ियां (रक्तस्फीति, कुंभिक दीवारों की बेधिता और प्रतिरोध में परिवर्तन) आदि। सामाजिक घटक भी महत्त्वपूर्ण होते हैं—जीवन-स्तर, आहार, हानिकर वृत्तिक घटक आदि। अन्य सम्प्रेरक घटकों में जलवायवी (जैसे पराबैंगनी किरणों की कमी), सामान्य पैठी रोग (खसरा, शोण-ज्वर आदि) का नाम लिया जा सकता है, जो शरीर का रक्षी प्रतिकारी बल क्षीण कर देते है। इमूनता और परोर्जन की अवस्थाएं भी चर्म की गठिक क्षतियों के विकास मे विशेष भूमिका निभाती है। चर्म मे योजक-ऊतकीय घटकों की प्रचुरता और उनके विविध रक्षी शरीरलोचनी कार्य चर्म मे बाधा डालते हैं, इसीलिये अन्य अंगों मे गंठिक्लेश की विभिन्न अभिव्यक्तियों के बावजूद चर्म इससे अछूता रह जाता है।

चर्म-गंठिक्लेश सिर्फ चर्म के विभिन्न शरीरलोचनी कार्यों मे गड़बड़ियों के संकुल के फलस्वरूप ही विकसित होता है, जिसके साथ-साथ इमूनता मे ह्रास और संवेदीकरण का विकास प्रेक्षित होता है। ऐसी स्थितियों मे नियमत निमित्त कारणों की विषालुता और परोर्जक क्षमता बढ़ जाती है। अविशिष्ट इमूनता जितनी ही कमजोर होती है, परोर्जक सक्रियता उतनी ही सक्रिय हो जाती है (यू० स्क्रीप्किन)। विशिष्ट संवेदीकरण परा-परोर्जिक सवृत्तियों और अविशिष्ट परोर्जक प्रभावों द्वारा तीव्र हो उठता है। टुबेरकूलिन के प्रति यक्ष्मा-रोगी की अतिसंवेदिता से मी-यक्ष्मा की संवेदीकारी क्षमता सिद्ध होती है। गठिक परोर्जीकरण की संपुष्टि स्थानिक (टुबेरकूलिन की सुई के स्थल पर) प्रतिक्रिया मे ही नही, वरन् अधिकेंद्रों मे उग्रता और पूरे शरीर की सामान्य प्रतिक्रिया (ज्वर, अस्वस्थता, कंपकंपी आदि) से भी होती है।

गदलोचनी क्षेत्र के ऊतकों में निमित्त कारण का अनुवेदन, पोषक माध्यम मे मी-यक्ष्मा का पनपना, जलुओं मे गदलोचनी द्रव्य के आधान के धनात्मक परिणाम (विशेषकर गीनिया पिग मे, जो यक्ष्माकारी बासिलों के प्रति बहुत संवेदी होता है), चर्म मे एक गठिवत संरचना की उपस्थिति, और इन सबके साथ-साथ टुबेरकूलिन-परीक्षण पिर्के (Pirquet), और मंटो (Mantoux) के परीक्षण के परिणाम चर्मरोग के याक्ष्मिक हेतुलोचन के प्रमाण हैं। चर्म-गठिक्लेश के अनेक केसों मे (विशेषकर इसके प्रकीर्णित रूप में) ये रीतियां ऋणात्मक परिणाम देती हैं। ऐसे केसों में अधिक व्यापक परीक्षण करना पड़ता है, जिसमे पूर्ण आयुर-वृत्त (जन्म से सभी रोगों और स्वास्थ्य-अवस्था के इतिहास), माता-पिता के स्वास्थ्य, क्लोम तथा लसतंत्र की अवस्था आदि (चर्म-यक्ष्मा के प्रकीर्णित रूप से ग्रस्त 80 से 100 प्रतिशत बच्चों में क्लोम तथा लसतंत्र आक्रांत हो जाते हैं) जटिल केसों के लाभ प्रेक्षण के आधार पर निदान किया जाता है (किस प्रकार की दवा या चिकित्सा से लाभ होता है इसके आधार पर ([illegible]

juvant bus लाभ से निदान)

चर्म-गठिक्लेश के तलिपक रूपों की विविधता अनेक घटको द्वारा निर्धारित होती है, जिनमे चर्म की इमूनोजीवलोचनी प्रतिकारिता एक मुख्य भूमिका निभाती है। रोगी की उम्र का भी एक निश्चित महत्त्व होता है। कंठमाल-चर्मता, वृका और शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा अक्सर बचपन और कैशोर्य मे विकसित होते है, जबकि मसेदार चर्म यक्ष्मा और कठललामी मुख्यत' वयस्को को ग्रस्त करती है। जलवायवी (अभिनतिक) परिस्थितियां मी-यक्ष्मा की जीवन-क्रिया के अनुकूल भी हो सकती है और प्रतिकूल भी। उदाहरणत', क्रीमिया, काकेशिया और एशिया के निवासी यक्ष्मज वृका से विरले ही ग्रस्त होते है।

यक्ष्माकारी बासिल चर्म मे वहिर्जनित या अतर्जनित मार्ग मे प्रविष्ट हो सकत हे। प्रथम स्थिति मे निमित्त जीवाणु स्वस्थ व्यक्ति के चर्म मे अधिचर्म के विदार या निशल्कन के मार्ग से रोगी व्यक्ति या जंतु से, अथवा किसी अन्य वस्तु से सक्रमण कर सकते है (जैसे कसाईखाने मे)। वैसे, यह पैठनमार्ग विरल है। अतर्जनित पैठन अधिक सामान्य (प्रायिक) है—किसी अन्य अंग (क्लोम, अस्थियो, लसपर्वो आदि) मे स्थित गठिक अधिकेंद्र से जीवाणु चर्म मे रक्त के सहारे (रक्तजनित मार्ग से) या लसीका के सहारे (लसजनित मार्ग से) पैठन करते है। यह पैठन की अपवहनरीति है, जिसे प्रकीणित वर्जरिक चर्म-यक्ष्मा, यक्ष्मज वृका का प्रकीर्णित रूप आदि विकसित हो सकता है। निकटवर्ती आक्रांत अग से सतत प्रसार द्वारा या थूक, मल-मूत्र में उपस्थित मी-यक्ष्मा के स्व-आधान द्वारा भी चर्म मे पैठन सभव है, जैसे आन्त्र-यक्ष्मा से ग्रस्त रोगी के पृष्ठद्वार के गिर्द और क्लोमिक यक्ष्मा के रोगी की मुख-श्लेष्मला पर गंठिक प्रक्रियाएं शुरू हो जाती हैं।

चर्म की गंठिक आक्रांतियों का कोई पूर्ण और संतोषप्रद वर्गीकरण नही हे। चर्म-यक्ष्मा के बहुसख्य रूपो को दो ग्रुपो मे बांटा गया है—स्थानावद्ध (अधिकेंद्रयुक्त) और प्रकीर्णित। सामान्य वृका (यक्ष्मज वृका), कंठमाल-चर्मता (संगलक यक्ष्मा), मसेदार चर्म-यक्ष्मा, व्रणित चर्म यक्ष्मा और बाजिन (Bazin) का रोग (कठललामी) सामान्यतम स्थानाबद्ध रूप है। वर्जरिक गठिक्लेश, शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा (पुराना नाम—कठमालकारी शैवाक) और पिटिकामृतिक गठिक्लेश प्रकीर्णित चर्म-यक्ष्मा का ग्रुप बनाते है।

स्थानाबद्ध रूप (अधिकेंद्रिक चर्मयक्ष्मा)

सामान्य वृका या वृकीय चार्म गंठिक्लेश

यह चर्म-यक्ष्मा का सबसे प्रायिक रूप है। यह चिरकालिक, मद तथा प्रगामी प्रवाह और ऊतकगलन की प्रवृत्ति द्वारा लछित होता है। रोग अक्सर बचपन मे शुरू होता

तक (कभी-कभी तो जीवनभर) बना रहता है। पिछले समय
। इसकी प्रायिकता बढ़ने लगी है।

(या सामान्य) वृका अक्सर चेहर पर, विशेषकर नाक पर (8
में), गालों, ऊपरी होठों और कभी-कभी गरदन, धड़ तथा हाथ-पै
होता है, अक्सर यह श्लेष्मल झिल्लियों पर भी विकसित हो जा
। प्रतिशत रोगियों मे)।

। से संबंधित कृतियो मे निम्न आकड़े मिलते हैं--सामान्य वृका के
त रोगियो को क्लोमिक यक्ष्मा रहता है, 5 से 20 प्रतिशत व
अस्थि-संधियों का यक्ष्मा रहता है। चर्म मुख्यत. रक्तजनित य
र्ग से आक्रात होता है। प्रक्रिया अक्सर चोटज क्षति (कटने-फटने)
है, जिसमे अव्यक्त पैठन सक्रिय हो उठता है।

रोग का आरंभ वृकाबों की उत्पत्ति से होता है ये पिन के सिर से लेकर मटर के दाने के आकार की पिटिकाएं होती हैं इनका रंग भूरा-ललछौंह होता है जिस पर विभिन्न तीव्रता की पीली-भूरी आभाएं होती हैं। वे मुलायम पेस्ट की तरह होती है, उनकी सतह चिकनी और हल्की चमकदार होती है, जिस पर बाद में शल्कन शुरू हो जाते हैं। वृकार्ब अक्सर ग्रुपों में स्फुटित होते हैं, जो शुरू में अलग-अलग होते हैं, फिर बाद में मिल जाते हैं; उनके परिसर में हमेशा अतिरक्तिल क्षेत्र दिखाई देता है। चूंकि प्रत्यास्थ एवं योजक ऊतकों की मृत्यु के कारण पिटिका में पेस्ट जैसा मुलायम द्रव्य होता है, इसलिये घुंडीनुमा छोर वाली सींक (नुकीली नहीं) से दबाने पर वह पूरी गहराई तक गड्ढा बना देती है (पोस्पेलोव का लक्षण)। एक अन्य लक्षण भी है, जिसका निदान के लिये कुछ कम महत्त्व नहीं है (डायस्कोपी)—जब कांच के पतले पट्टे को वृका के अधिकेंद्र पर दबाया जाता है, रक्त विस्फारित केशिकाओं से निकलकर दूर हो जाता है और वहां का ऊतक विवर्ण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वृकार्ब मोम-सदृश पीले-भूरे धब्बे की तरह दिखने लगता है। भूरा रंग सेव की जेली जैसा लगता है, इसलिये इस लक्षण को 'सेव-जेली की संवृत्ति' का नाम दिया गया है।

पिटिकाएं धीरे-धीरे बढ़ती हैं, संगम करके अनियमित आकृति के धब्बे बना लेती हैं, जिसमें गुल्म जैसे अधिकेंद्र होते हैं। बड़े व्रण अंतर्स्यंद के नष्ट होने से बनते हैं। सामान्य वृका के 4 प्रतिशत केस कटकोशिकीय या आधार-कोशिकीय कर्कार्ब से क्लिष्ट हो जाते हैं। वृकीय अंतर्स्यंदों के शुष्क अपचोषण से कुपोषी दाग रह जाते हैं। वृकार्ब के स्थल पर बनने वाले दाग चौरस, श्वेताभ और देखने में सिगरेटी कागज जैसे होते हैं। वृकीय क्षतियां कुपोषी दाग के स्थल पर दुबारा भी उत्पन्न हो सकती हैं (गदोचीनक चिह्न)। सामान्य वृका के कई तल्पिक रूप हैं, जो पर्विकाओं के बाह्य रूप, किन्हीं विकास-चरणों के प्राबल्य और रोग-प्रक्रिया के प्रवाह द्वारा विभेदित होते हैं।

ऊपर वर्णित मुख्य रूप को चौरस वृका कहते हैं, जिसके दो भेद हैं—चौरस चित्तीनुमा वृका और चौरस गठिक वृका। प्रथम में वृकार्ब त्वचा से ऊपर उभरे हुए नहीं होते, दूसरे रूप में वृकार्ब त्वचा से ऊपर उभरकर गांठों की तरह मोटे (और परिसीमित) धब्बे बना लेते हैं।

गुल्मवत वृका ऐसी अवस्था है, जिसमें गुल्म जैसी मुलायम क्षतियां उत्पन्न होती हैं; दरअसल ये नन्ही, परस्पर संलीन पर्विकाओं का जमघट होती हैं। ये कान और नाक की नोक पर स्थित होती हैं और इनमें व्रण्य अपघटन की प्रवृत्ति होती है।

ललामीवत सामान्य वृका प्रचंड अतिरक्तिल अधिकेंद्रों और स्पष्ट अतिशृंगनना

द्वारा लछित होता है।

शल्की वृका में शृगी परत ढीली हो जाती है और वृकीय अधिकेंद्र पर स्पष्ट शल्कन शुरू हो जाता है।

अतिकुपोषी मसेदार वृका मे वृकार्बो पर कीलक जैसे बडे-बडे अतिशृगिक प्रवर्ध बन जाते है।

विव्रणित वृका अधिकेंद्र के विस्तृत व्रणन द्वारा लछित होता है। व्रण सतही होते है और उनकी परिरेखाए अनियमित एव शुक्तिक होती हैं। किनारिया मुलायम और सुरगित होती है और तली गंदे-भूरे कीलक जैसे कणीकरण से ढकी होती है और सरलतापूर्वक रक्त-स्राव करने लगती है।

कुछ केसो मे गहराई पर स्थित ऊतक (उपास्थिया, अस्थियां, संधिया) भी विनाशकारी व्रणन की चपेट में आ जाते है। इससे विकलागता, रेशेदार व गुल्मवत क्षताक, नाक, कान, पलक, उगलियों और हाथ-पैर के आकार में विकृति उत्पन्न होती है (विकलागकारी वृका)। नाक की विभाजक भित्ति और उपास्थि के नष्ट होने से वह चिड़िया की चोच जैसी छोटी और नुकीली हो जाती है। पलको का उलटना (विवर्तन), मुंह का सकरा होना, कर्ण-पालिका और कर्ण-कुहर की विकृति भी पायी जाती है। इन सबसे रोगी बदशक्ल हो जाता है।

श्लेष्मल वृकीय गठिक्लेश नाक और मुह की श्लेष्मलाओ की आक्राति है, जो कभी-कभी असपृक्त भी होती है। मुंह मे मसूढो और कठोर तालू की श्लेष्मल झिल्लियां रोग-प्रक्रिया के प्रिय स्थल हैं। शुरू मे बाजरे के दाने जैसी नन्ही नीलाभ लाल गंठिकाए उत्पन्न होती है; ये इतनी पास-पास होती हैं कि ग्रस्त क्षेत्र की सतह दानेदार दिखने लगती है। उनमें निरंतर चोट आदि लगते रहने से वे व्रणित होने लगती है। व्रणों की सीमा अनियमित शुक्तिक (सीप की सीमारेखा जैसी) होती है और तली कणदार (दानेदार) होती है। इनसे सरलतापूर्वक रक्त रिसने लगता है और ये एक पीली झिल्ली से आच्छादित होते है। व्रणो के गिर्द यदाकदा गठिकाए भी नजर आती हैं। प्रक्रिया वर्षो तक चलती रहती है, बहुत धीरे-धीरे आगे वढती है और इसके साथ-साथ लसग्रंथिशोथ व श्लीपद भी शुरू हो जाते है। जब क्षतिया त्वचा पर भी पायी जाती हैं, तब निदान सरल हो जाता है। नासा-श्लेष्मला की आक्राति गहरे नीले रग के मुलायम पर्विकीय अंतर्स्यदन द्वारा लछित होती है, जो सरलतापूर्वक रक्त रिसाने वाले व्रण बनाते हुए अपघटित हो जाता है। उपास्थि के नष्ट हो जाने के कारण नाक पर एक आरपार छेद बन जाता है। चेहरे के चर्म मे सामान्य वृका की आक्राति से पूर्व नासा-श्लेष्मला मे क्षति उत्पन्न होती है।

अन्य रूप भी वर्णित किये गये हैं बुसनरूपी सामान्य वृका जिसमें शृंगन प्रक्रिया में गडबडी के कारण हल्का शल्कन होने लगता है खर्जुरूपी वृका

जिसमें शल्को पर चादी की तरह चमकीली आभा होती है विसपी सामान्य वृका जिसमे केंद्रस्थ वृकार्ब जब कुपोषी क्षताक बनाता हुआ अपचोषित हो जाना है परिसर पर (और पुराने वृकार्ब की जगह भी) नये वृकार्ब उत्पन्न होने लगते है। इन स्थितियो में अधिकेंद्री को परिरेखाए बिल्कुल भिन्न प्रकार की हो जाती है। सामान्य वृका के अन्य रूप भी है, जैसे–अपशल्की, प्रस्तरवत, खड्डीवत।

सामान्य वृका अक्सर निम्न रोगो से क्लिष्ट हो जाता है–चर्मशोण से (नाक, होठ, पैर के रोगग्रस्त चर्म-क्षेत्र पर), लसकुभीशोथ से, एक पूयकारी प्रक्रिया से (डपेतिग वृका) और चर्मकर्कार्ब (कर्कार्बी वृका) से, जो विशेष खतरनाक होता है, यह कुपोषी वृकीय क्षतांकों के परिप्रेक्ष्य से विकसित होता है। कर्कार्बी वृका अधिकाशतः उन लोगो के चेहरे के चर्म पर होता है, जो बहुत लबी अवधि से सामान्य वृका की चपेट मे रहते हैं।

ऊतगदलोचन–सुचर्म मे गठिकाए उत्पन्न होती है, जो उपकलीय एव विशाल कोशिकाओं से बनी होती हैं और लसकोशिकाओ के एक क्षेत्र मे घिरी रहती हैं। लागहास (Langhans) की विशाल कोशिकाएं गठिका के मध्य में होती है। परिसरीय क्षेत्र मे लसकोशिकाओं के अतिरिक्त प्लाज्मा-कोशिकाएं भी बहुत बडी संख्या मे उपस्थित रहती हैं। गठिकाओं मे पनीर-सदृश विमृति नही होती, या बहुत कम होती है। यत्र-तत्र ऐसी भी कुभियां मिलती है, जिनका आवरण बदल चुका होता है और यहा तक कि छेद (भीतरी मार्ग) भी अवरुद्ध रहता है। मी-यक्ष्मा मुश्किल से मिलते है और बहुत ही कम सख्या मे होते है। कभी-कभी विशाल कोशिकाओं से युक्त विसरित लसवत अंतर्स्यदन का पता चलता है; उसमे कोलाजनी प्रत्यास्थ ऊतक नही होते। अधिचर्म में परिवर्तनो की प्रकृति द्वितीयक होती है–अतिशृंगनता, कटलयक्लेश और पिटिकार्बक्लेश (मसेदार वृका मे)। वृकीय व्रणो की किनारियो पर अधिचर्म स्पष्ट कटलयन की अवस्था मे होता है। वृकीय अतर्स्यदन कभी-कभी क्षताको के क्षेत्र मे बचा रह जाता है, जिससे क्षताकित ऊतक पर वृकार्ब का पुनरावर्तन हो जाता है।

निदान निम्न पर आधारित होता है–रोग के तल्पिक लक्षणों, वृकार्बो के लछक गुण ('सेब की जेली' और पोस्पेलोव के लक्षण), उनके स्थान, प्रक्रिया के प्रवाह, क्षताकों की प्रकृति।

विभेदक निदान गठिकीय सीफिलिस, कुष्ठ व लेइशमैनता के गठिवत रूपो, अशुकवकता, ललामक्लेशिक वृका के डिस्कवत (डिस्कोइड, चकतीनुमा) रूप के साथ किया जाता है। गठिकीय सीफिलिस मे गठिकाए कठोर होती हैं, अधिकेंद्रो के रूप में व्यवस्थित रहती हैं, उनमे सगम की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्य बातें–डायस्कोपी और पोस्पेलोव लक्षण ज्ञात करने के परिणाम ——— होते है गठिकाओ के

अपचोषण के बाद क्षतांको की मोजेक जैसी सज्जा बन जाती है (अनियमित तलाकृतियो और असमरूप वर्णकता के कारण), अपचोषण के बाद नयी गठिकाए नही बनतीं, प्रक्रिया का प्रवाह अपेक्षाकृत तीव्र होता है (कुछक सप्ताह से कुछेक महीनो मे, लेकिन वर्षो तक कभी नही चलती); कुछ केसो मे सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणाम। कुष्ठ के गठिवत रूप की निम्न विशेषताए है—ग्रस्त चर्म-क्षेत्र से पीड़ा एव तापक्रम की सवेदना का लोप, क्षतियो की बहुरूपता (चित्तीनुमा, पिटिकीय, गठिकीय क्षतिया); पिटिकाओ व गठिकाओ की कठोर बनावट तथा जकाह भूरी आभा, चर्म मे पोषण संबंधी विस्तृत गड़बडियां, वृकार्ब के ऊतक-द्रव के सूक्ष्मदर्शन से हासेन के बासिलों का अनुवेदन। चर्म-लेइशमैनता के गठिवत रूप के निदान मे महत्त्वपूर्ण बाते निम्न है—आयुर-वृत्त (जैसे रोगी का बहुमारी-क्षेत्र मे रह चुकना), लेइशमैनार्ब के स्वस्थ होने पर क्षताक के गिर्द गठिकाओ का अवस्थित होना; लैइशमैनार्व के गिर्द मोती जैसे स्थूलन के रूप मे लसकुंभीशोथ का विकास, खुले चर्म-क्षेत्रो पर गंठिकाओ की स्थिति, गठिकाओ का शीघ्र प्रचुर पूयस्राव के साथ वर्णन, निमित्त जीवाणु का अनुवेदन। अंशुकवकता मे गठिकीय क्षतिया विरल है, वे कठोर होती है, उनमें परस्पर संगम की प्रवृत्ति होती हे। नासूरों के मुंह कठोर अतर्स्यदन से घिरे होते है। द्रव पूय मे पीले पनीर जैसे दाने दिखाई देते हैं (आक्तीनोमीत के ड्रजेन)। सामान्य वृका के कुछ रूप (जो नाक व गालो पर स्थित होते है और शल्कन व अतिशृंगनता से लंछित होते है) ललामक्लेशिक वृका से मिलते-जुलते हो सकते है। कुछ केसो मे विओप्सी (बायोप्सी) तथा ऊतलोचनी परीक्षण की सहायता लेनी पड़ती है।

चिकित्सा—विटामिन D_2 (दैनिक खुराक 30000-50000-100000U) और फ्थीवाजिड या इजोनिआजिड (0.3-0.5 ग्राम दिन में तीन बार, कुल खुराक 100-2000 ग्राम) मुखमार्ग से दिया जाता है। स्त्रेप्तोमीसिन की सुइया (दैनिक खुराक 0.5-1 0 ग्राम) की कुल खुराक 100 ग्राम प्रलिखित की जाती है। ये दवाए उपचारकर्ता की सतत निगरानी मे दी जाती है, क्योकि इनसे अवाछनीय प्रभावो एव क्लिप्टताओ के उत्पन्न होने का खतरा रहता है। PAS तथा अन्य एटी-गंठिक्लेशिक दवाएं कम असरदार होती है। एक्स-रे से विकिरणन वृका के गुल्मिक, पिटिकार्बी, मसेदार एव व्रणीय रूप से और श्लेष्मल झिल्लियो के तीव्र अतर्स्यदन में सुसंकेतित हैं। प्रकार-चिकित्सा (धूप या कार्बन-आर्क से युक्त लैप के प्रकाश का सेवन) बहुत कारगर होती है, लेकिन उन्ही लोगों के लिये प्रयुक्त हो सकती है, जिनके क्लोम (फुप्फुस; फेफडे) में गठिक्लेशिक प्रक्रिया सक्रिय नही होती है। नमकहीन आहार सुसकेतित है।

बाह्य चिकित्सा का उद्देश्य है ———— ऊतको को नष्ट कर देना। इसके

लिये 10 20 50 प्रतिशत साद्र पीरोगालोल-मलहम 3 प्रतिशत साद्र आर्सेनिक-पेस्ट 30 प्रतिशत साद्र रेजोर्सिनोल पेस्ट और द्रव नाइट्रोजन आदि का उपयोग होता है श्लेष्मला पर स्थित वृकाब को लैक्टिक अम्ल के 50 प्रतिशत साद्र घोल द्वारा या पिओसिड द्वारा जला देते है। सीमित आक्राति होने पर कभी-कभी अधिकेंद्र को करोर्जिक विधि से दूर करके एक्स-रे से चिकित्सा करने का निर्देश दिया जा सकता है। कुटाली केसो मे उपर्युक्त दवाओ तथा चिकित्सा रीतियो का मेल भी सुसकेतित है। ऐसे रोगियो का इलाज और परीक्षण नियमित रूप से होना चाहिए।

भविष्यवाणी—सामान्य वृका लबे समय तक बना रहता है। कुछ केसो मे आक्राति-केद्रो मे विकास की कोई प्रवृत्ति नही होती, चिकित्सा नही करने पर भी वे वर्षो तक ज्यो-के-त्यों बने रह सकते है। अन्य केसों मे गदलोचनी प्रक्रिया नये-नये चर्म को ग्रस्त करते हुए बहुत मद गति से प्रसारित होती है। ऐसा प्रसार सहवर्ती रोगों, प्रतिकूल जीवन-परिस्थितियो तथा अन्य घटको से प्रोत्साहित होता है, जो शरीर के रक्षी बल को और उसकी प्रतिकारिता को क्षीण करते रहते है। यथासमय उठाये गये आवश्यक कदमो, विवेकसगत चिकित्सा, कैलोरी-समृद्ध आहार और उचित देखभाल से रोगी सामान्य जीवन मे और काम पर लौट सकता है।

कंठमाल-चर्मता या संगलक चर्म-यक्ष्मा

कठमाल-चर्मता चर्म-यक्ष्मा का बहुत ही सामान्य रूप है और लगभग सिर्फ बचपन और कैशोर्य मे होता है। इसके दो रूप है--प्राथमिक कठमाल-चर्मता, जिसमे क्षति किसी निश्चित चर्म-क्षेत्र मे बनती है (रक्त द्वारा वहां यक्ष्माकारी बासिलों के पहुंचने से, ये अक्सर एकल एवं अलग-अलग आक्रांतियां होती है), और द्वितीयक कठमाल-चर्मता (जो अधिक प्रायिक है); दूसरे रूप में पैठन यक्ष्माग्रस्त लसपर्वो से (और अपेक्षाकृत कम केसो मे अस्थियो तथा अस्थि-संधियो से) सतत प्रसार द्वारा फैलता है।

रोग चर्म का अवचार्म वसा में अपेक्षाकृत कठोर, अडाकार व गहराई पर बैठी गठिकाओ द्वारा लंछित होता है। वे बैंगनी-लाल, पीड़ाहीन और हल्की-सी कोमल होती है। गठिकाएं बाद में मुलायम हो जाती है और आपस मे संगम करने लगती हे, गठिकाओं का मुलायम जमघट बना लेती हैं, गलने लगती हैं, फिर विद्रधियो मे परिणत हो जाती हैं, जिनमें नासूर और व्रण विरचित होने लगते है। व्रण सतही होते है, इनकी आकृति अनियमित होती है, किनारियां मुलायम, चिकनी, नीली और सुरगित होती हैं। वे दानो से तथा पनीरी अपघटन की टूटनो से आच्छादित होते हैं। जब व्रण ठीक हो जाता है, विशेष प्रकार से ऐठे हुए, अनियमित (आकृति

के) सेतु-सदृश दाग रह जाते है, जिन पर बड़े लोम होते है। ये शरीर को कुरूप करते हैं। कंठमाल-चर्मता के प्रिय स्थल निम्न है—गले की पार्श्व सतहें, अवजभी एव अधिजंभी (जबडे के नीचे व ऊपर के) क्षेत्र, कर्णशख के गिर्द, अवजत्रुक एव अधिजत्रुक (हसुली के नीचे व ऊपर के) क्षेत्र और अस्थि-सधियों के गिर्द चम-क्षेत्र। कंठमाल-चर्मता अक्सर अस्थियो, सधियों आंखों और क्लोमो के गठिक्लेश तथा चर्म-यक्ष्मा के अन्य रूपो (सामान्य वृका, मसेदार गठिक्लेश) के साथ-साथ ही होती है।

ऊतगदलोचन--पनीरी (छेने जैसा) अपघटन और बहुसख्य लसकोशिकाए गठिका के मध्य भाग मे पायी जाती हैं। विमृत क्षेत्र अंतर्स्यदन से घिरा होता है, जो लसकोशिकाओं, प्लाज्मा-कोशिकाओ से बनता है। अंतर्स्यदन के क्षेत्र मे नवसर्जित रक्त और लसकुभिया अवरुद्ध अवस्था मे होती है (उस अतर्स्यदन के क्षेत्र मे, जिसका अभी अपघटन नही हुआ है)। मी-यक्ष्मा गदलोचनी प्रसाधनो मे कही अधिक प्रायिक रूप से मिलते है, बनिस्बत कि सामान्य वृका में।

निदान—कंठमाल-चर्मता का निदान तल्पिक लक्षणो और पिर्के-परीक्षण पर आधारित होता है (परीक्षण का परिणाम सुदम प्रक्रिया वाले बडे बच्चों में तीव्र धनात्मक होता है, लेकिन छोटे बच्चों में विरोधाभासी होता है)। रोग-वृत्त, तल्पिक, एक्स-रे तथा ऊतलोचनी परीक्षण भी ध्यान मे रखे जाते हैं।

विभेदक निदान मुख्यत॰ सीफिलिसी रालार्व, अशुकवकता के रालार्बिक पर्विकीय रूप, चिरकालिक व्रणित चर्मपूयता और बाजिन-रोग के साथ किया जाता है। सीफिलिसी रालार्ब में सिर्फ केंद्रीय अपघटन होता है और वहां क्रेटर जैसा व्रण बन जाता है, जो कठोर अतर्स्यदन की एक परिमा (rim) से घिरा होता है, सीरमलोचनी परीक्षण का परिणाम अक्सर धनात्मक होता है और बिओक्वीनोल से आजमाइशी चिकित्सा करने पर रालार्ब अपचोषित हो जाता है। रालार्बिक-पर्विकीय अशुकवकता (गरदन पर या अवजंभी क्षेत्र पर) अपेक्षाकृत कठोर, वृहत, अर्ध गोलाकार पर्वो के विरचन द्वारा लंछित होती है। वे एक अतर्स्यद के रूप मे सगम कर जाते है, जो काठ की तरह कठोर होता है; इसके केंद्र मे नासूर के मुहाने के साथ-साथ मुलायमियत विकसित होती है। इसमे से पीले पनीरी दानो (ड्रूजेन) से मिश्रित पूय स्रावित होता है।

चिरकालिक व्रणित चर्मपूयता नियमत॰ वयस्कों को होती है और बहुरूप सतही व गहरे चर्मपूयसों द्वारा लछित होती है, जिनमे लसपर्वो के पडोस मे (निकट) विरचित होने की कोई प्रवृत्ति नही होती; व्रण के गिर्द शोथी प्रतिक्रिया होती है बाजिन-रोग को से तभी विभेदित करना पडता है जब वह पिंडलियों पर स्थित होता है बाजिन की में क्षतिया सममित रूप से

व्यवस्थित होती हैं पर्विकाए उभरी हुई नही होती सिर्फ चौरस विसरित अतस्यंदन होता है व्रणन की कम प्रवृत्ति होती है यह रोग विशेषकर लडकियों को यौन-परिपक्वता की अवधि में होता है)।

चिकित्सा--निम्न दवाए प्रलिखित होती है--फ्थीवाजीड (कुल खुराक 100-200 ग्राम) तथा इजोनीकोटिनिक अम्ल हिड्राजीड (हाइड्राजाइड) के अन्य प्रसाधन (इजोनिकाजिड, सालूजिड) दैनिक खुराक 0 75-1 0 ग्राम, स्त्रेप्तोमीसिन नित्य 1 0 ग्राम (कुल खुराक 100 ग्राम तक), सोडियम-पैरा अमीनोसालीसीलेट (सोडियम-PAS, 'बेपास') नित्य 8 0-12 0 ग्राम (कुल खुराक 600-800 ग्राम), फीटिन और फोस्फ्रेन। सूर्य-चिकित्सा और परावैंगनी विकिरण भी कारगर उपाय है। कुछ केसो मे करोर्जन की सहायता ली जाती है। बाह्य चिकित्सा मे निम्न प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं--एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट और पोटाशियम परमैंगनेट के लोशन, 10 प्रतिशत साद्र आयोडोफोर्म-इमल्शन नासूर मे सुई द्वारा आधानित होता है।

भविष्यवाणी--रोग का चिरकालिक प्रवाह महीनो और वर्षो तक चलता रहता है, बीच-बीच में कभी-कभी कुछ समय के लिए उपशमित भी होता है। हल्के केस आधुनिक रीतियों से सफलतापूर्वक ठीक हो जाते हैं। व्रणन-प्रक्रिया के बहुत आगे बढ जाने पर भविष्यवाणी कम अनुकूल होती है।

मसेदार चर्म-यक्ष्मा

रोग अधिकांशतः वयस्को को होता है और उनमें भी ज्यादातर पुरुषो को, लेकिन रोगियो की कुल सख्या सामान्य वृका के रोगियो की संख्या से आधी होती है। मसेदार यक्ष्मा ज्यादातर उन लोगो को होता है, जो आदमी और जतु के मृत अगो में उपस्थित गठिक्लेशिक द्रव्य के संपर्क मे अपनी वृत्ति (जीविका) के कारण आते है (जैसे जतु-करोर्जक, गदलोचक, कसाई, बूचड़खाने के कर्मी आदि को)। वे लोग भी अक्सर ग्रस्त हो जाते है, जिन्हें यक्ष्मा के सक्रिय रूप से पीडित लोगो की देखभाल करनी पडती है (जैसे आयुर-कर्मी)। इन स्थितियों मे रोग अतिपैठन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। क्लोम, आंत आदि के यक्ष्मा के खुले रूपों से ग्रस्त रोगियो मे मसेदार यक्ष्मा स्व-आधान के फलस्वरूप विकसित हो जाता है।

क्षतियां अक्सर हथेली के पीछे और उगलियो पर स्थानाबद्ध होती है, गोड पर अपेक्षाकृत विरले ही होती है। पहले मटर के दाने जितने बडी, कठोर, नीली-लाल गंठिका उत्पन्न होती है (शवगंठिक)। यह एक चौरस कठोर पैबद मे परिणत होता जाता है जिसकी सतह पर मसे बनते हैं और बडी-बडी शृंगी परते बैठती हैं मसेदार यक्ष्मा के विकसित अधिर्केद्र में तीन कटिबध होते हैं परिसरीय

मध्य (कठोर कीलक-सदृश उभार, विदार तथा खड्डिया) और ठिकीय सतह से युक्त कुपोषित चर्म-क्षेत्र)। अपचोषण के ाकित होते है। क्षेत्रीय लसकुभिया और लसपव भी अक्सर आ जाते है। जब (मास) कीलक जैसी विरचना को दबाया तरफ से पूय की बूंदें निकल आती है, यह उप-अधिचार्म सूक्ष्म मुख्य अधिकेंद्र के परिसर पर नयी पविकाए और नये 'पैवद' जो बाद मे संगम कर जाते है।

ाचोपण के बाद कुपोषज क्षताक रह जाते है; सामान्य वृका के पर नयी क्षतियां नही उत्पन्न होती है। रोगी की सामान्य ापप्रद होती है। टुबेरकूलिन-परीक्षण के परिणाम 80 से 96 3 धनात्मक होते हैं।

`—कटलचक्लेश, अतिशृंगनता और पिटिकार्वक्लेश पाये जाते ते बहुरूप-नाभिकीय श्वेतकोशिकाओं और लसकोशिकाओं से तस्यंदन दिखाई देता है। अधिचर्म की काटल परत मे यत्र-तत्र मिलती है। हल्की पनीरी (छेने जैसी) विमृति वाली विशिष्ट ृचर्म के मध्य भाग में अवस्थित रहती हैं। कुछ केसो मे
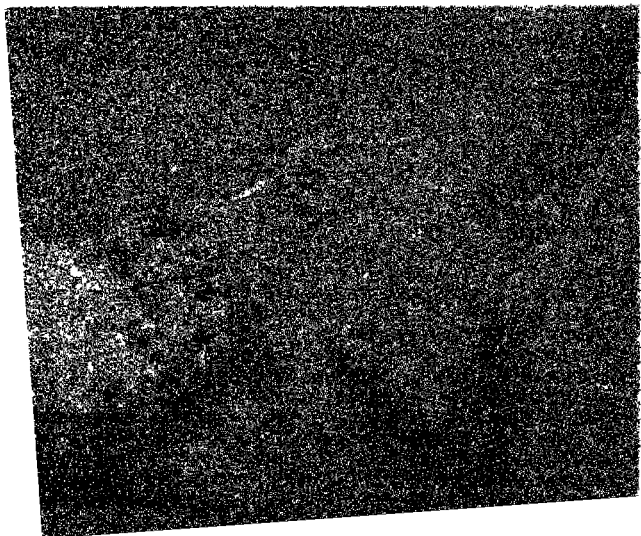
अविशिष्ट शोथी अतर्स्यंदन भी पाया जाता है गदलोचनी प्रसाधन मे मी-यक्ष्मा अधिक अक्सर और अधिक सख्या मे मिलते है बनिस्बत कि सामान्य वृका मे

निदान के आधार निम्न हैं—तल्पिक चित्र (अधिकेंद्र के परिसर पर बैंगनी-लाल सीमा और उसके तीन कटिंवधो की उपस्थिति), प्रक्रिया का स्थल, ऊतलोचनी परीक्षणों के परिणाम, टुबेरकूलिन-परीक्षण के धनात्मक परिणाम, गीनिया पिग मे ऊतक-द्रव आधान करने के परिणाम। पनपू चर्मपूयता मे (इसके विपरीत) स्पष्ट शोथ और प्रचुर पूय-स्राव होता है (जब 'पैबद' को किनारियो पर दबाया जाता है)। अकुरी कवकता, वर्णकवकता और स्पोरज लोमक्लेश मे मुलायम रिसालु अतर्स्यंदन होता है, जिससे विशिष्ट प्रकार का स्राव निकलता है। इन चिरकालिक कवकताओ के निदान की पुष्टि बाक्तेरिओस्कोपी और ऊतलोचनी परीक्षण से हो जाती है। कटकोशिकीय कर्कार्ब प्राकृतिक छिद्रो (मुहानों) के पड़ोस से सममित रूप से अवस्थित होता है और कम समय मे ही व्रणित होने लगता है।

चिकित्सा—गठिक्लेशिक (याक्ष्मिक) चर्म-क्षतियों के लिये प्रयुक्त सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त तीक्ष्ण छोलनी से खुरचन, पारतापीय स्कंदन ओर एक्स-रे-चिकित्सा का भी उपयोग होता है।

भविष्यवाणी—अक्सर अनुकूल होती है, यद्यपि रोग प्ररक्षित चिरकालिक प्रवाह भी ग्रहण कर सकता है।

चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों का व्रणित यक्ष्मा

इस रोग को वर्जरिक व्रणित यक्ष्मा भी कहते हैं। अन्य नाम भी हैं—द्वितीयक याक्ष्मिक (गंठिक्लेशिक) व्रण, मुहानों का चर्म-गंठिक्लेश। चर्म-यक्ष्मा का यह विरल रूप आतर अंगो (क्लोमो, कठ, आत, गुर्दो) के यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों मे पाया जाता है और उनमे यह रोग स्व-आधान के सहारे उत्पन्न होता है। क्षतियां अक्सर प्राकृतिक छिद्रो (मुहानो) के समीप उत्पन्न होती हैं, जहां चर्म सतत रूप से श्लेष्मल झिल्ली मे संक्रमण कर जाता है (प्राकृतिक छिद्र है—मुह, नाक, पृष्ठद्वार, लिगपूग)। मी-यक्ष्मा रोगी के थूक तथा मूत्र के साथ निकलते हैं और चर्म या श्लेष्मल झिल्लियों मे आरोपित हो जाते है।

पिन के सिर जैसी छोटी पीताभ-लाल पर्विकाए अक्सर अप्रेक्षित रह जाती हे, क्योकि वे तेजी से पिपिकाओ मे परिणत हो जाती है, जो खुलकर संगम कर जाती हे और बड़े-बड़े व्रण बना लेती है। व्रणो की किनारिया मुलायम, हल्की लाल, सीप की तरह वक्र (शुक्तिक) और सुरगित होती है, तली असमतल दानेदार होती है, कणीकरण अल्प और भूरा होता है। तली से अक्सर रक्त रिसता है और वह अपूर्ण पूय-सीरमी झिल्ली से ढकी रहती है। पीली गठिक्लेशिक गठिकाओ के पनीरी

अपघटन स व्रण की तली ओर उसके गिर्द छेने जैस कण जमा हो जाते है (ट्रेलाट के कण)। आकृति के अधिकेंद्रो के गहरे होने और उनके विसर्पी प्रसारण के लिए जिम्मेदार ये ही कण है। व्रण बहुत ही कामल होते है, जिमसे खाना (यदि प्रक्रिया मुह मे अवस्थित है) और मल-विसर्जन (यदि क्षति पृष्ठद्वार के क्षेत्र मे है) कठिन हो जाता है।

वाक्तेरिआस्कोपिक विश्लेषण मे ढेर सारे मीकोवाक्तेरी मिलते है। इन रोगियो मे टूबेरकूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होता है, क्योकि इम्नोजनन भयानक रूप से निढाल हो जाता है और अनूर्जिता की अवस्था आ जाती है।

ऊतगदलोचन—ऊतलोचनी चित्र अविशिष्ट शोथी अतर्स्यदन द्वारा लछित होता है, जिसमे मीकोवाक्तेरी अनुवेदित होते है।

निदान के आधार निम्न है—तल्पिक चित्र, आत्तर अंगो मे सक्रिय यक्ष्मा ओर ट्रेलाट (Trelat) के कणो की उपस्थिति और सूक्ष्मदर्शन से मीकोबाक्तेरियो का अनुवेदन। कुछ स्थितियो मे चर्म के व्रणित यक्ष्मा को पहचानने में किसी अंग मे यक्ष्मा का ज्ञात होना भी सहायक सिद्ध होना है।

द्वितीयक सीफिलिस के व्रणित सीफिलड के साथ विभेदक निदान में इसकी क्षतियो की तली और किनारियों की कठोरता, स्राव मे त्रेपोनेमा पालीडुम के अनुवेदन, द्वितीयक अवधि के अन्य लक्षणो और रक्त के सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणामो को ध्यान मे रखा जाता है। तृतीयक सीफिलिस की गंठिकाए गहरे व्रण बनाती है, जिनकी आकृति सही गोल होती है, किनारी रिम की तरह कठोर उभरी होती है; ये व्रण लछक रूप से पीड़ाहीन होते है। सामान्य वृका के व्रणित रूप मे 'सीक' और 'सेब की जेली' के लक्षण देने वाले लछक वृकार्ब व्रणित-सतह के परिसर पर उत्पन्न होते है। टूबेरकूलिन परीक्षण के धनात्मक परिणाम को और इस वात को कि रोगी अपने को काफी अच्छा महसूस करता है, ध्यान में रखना चाहिए। कठव्रण-सदृश व्रणो के साथ-साथ तीव्र शोथ, प्रचुर पूय-स्राव, परिसर मे सतान-क्षतियो (daughter lesions) और कठव्रण की गिल्टी की अक्सर उपस्थिति भी प्रेक्षित होती है। प्रयोगशाला के अध्ययन से डुक्रे-उन्ना-पीटर्सन के स्त्रेप्तो-वासिल मिलते है। उपकलार्ब के विभेदक लक्षण है—व्रणो की किनारियो का मोटा होना, व्रणो के परिसर मे भूराभ 'मोतियो' की उपस्थिति, तलपर्वो मे डिस्क (चकती) की तरह कठोरता।

चिकित्सा—थेरापिक युक्तियों का उद्देश्य है सामान्य यक्ष्मा से सघर्ष। स्थानिक एक्स-रे-चिकित्सा अपनायी जाती है—रोगी को सात दिनों के अतराल पर दो बार 200-250r (रेटगेन) से विकिरणित किया जाता है (चर्म और नाभि या फोकस की दूरी 30 सेटीमीटर वोल्टता 120 किलोवोल्ट धारा की तीव्रता 5 फिल्टर 3 मिलीमीटर अलुमीनियम का व्रणों को पहले पिओसिड से

ससाधित करने के बाद 50 प्रतिशत साद्र लॉक्टक अम्ल से दागा (जलाया) भी जा सकता है कभी-कभी क्षतियों को करोर्जिक विधियों स भी दूर किया जा सकता हे

भविष्यवाणी आतर अगों के यक्ष्मा के प्रवाह पर निभर करती ह । सामान्य यक्ष्मा की चिकित्सा मे सफलता मिलने के साथ-साथ अब व्रणित यक्ष्मा की भविष्यवाणी मे भी सुधार हुआ है, इसके दर्ज केसो की सख्या दिनो-दिन घटती ही जा रही है।

बाजिन का रोग (कठललामी)

बाजिन का रोग अक्सर 16 से 40 वर्ष की स्त्रियो को होता है (और इनमे भी मुख्यतः युवतियो को), जिनमें से अधिकाश किसी-न-किसी अन्य प्रकार के यक्ष्मा से ग्रस्त होती हैं। रोग के अभिव्यक्त होने में सप्रेरक घटक निम्न है—यक्ष्मा के साथ-साथ रक्त-सचार की गडबडियां (नीलपर्यगता, शिरा-विस्फारण), पैरो का अक्सर ठंडा होना, ऐसी वृत्ति होना, जिसमे रोगी को खडे-खडे काम करना पडता है आदि। पुनरावर्तन शरद तथा शीतऋतु मे विकसित हो सकता है।

कठललामी की तल्पिक अभिव्यक्तियां है—गहराई में स्थित कठोर तथा धीरे-धीरे बढने वाले पर्व (नोड्स) या नीलाभ लाल रग के विस्तृत चौरस अतर्स्यदन, जिनका आकार बादाम से लेकर टमाटर के बराबर तक हो सकता है। पर्व (दो-चार से लेकर दस या इससे भी अधिक बडी सख्या मे) चर्म तथा अवचार्म वसा की गहराई में स्थित होते है और छूने मे कुछ मुलायम-से लगते हैं। ये मुख्यतः गोडो पर (और अपेक्षाकृत कम प्रायिकता के साथ जांघो, नितंबों और हाथ पर) सममित रूप से उत्पन्न होते है। मुख और नासा-ग्रसनी की श्लेष्मल झिल्लिया विरले ही ग्रस्त होती हैं। कुछ सप्ताहो या महीनों में महत्तम विकास को प्राप्त होकर पर्व घटने लगते हैं और उनके बाद वलयाकार कुपोषित स्थल तथा वर्णकता रह जाती है। कुछ केसों में अधिकेंद्रो का मध्य में गलन शुरू हो जाता है, वे संगम करते हैं और नासूरयुक्त पीडाहीन व्रण बनाते है जिनकी किनारियां सुरगित होती है और तली गदले-भूरे दानों से ढकी होती है; इस अवस्था को व्रणित कठललामी का हचिसन-रूप (Hutchinson's form) कहते है। व्रणों के ठीक हो जाने पर ऐठे हुए-से वर्णकित क्षताक रह जाते हैं।

चिकित्सा न कराने पर रोग महीनो और वर्षो तक बना रह सकता है और ठड के मौसम मे पुनरावर्तित होता रहता है। पर्व लसकुंभिशोथ से क्लिष्ट भी हो सकता है, जो कुंभी-पथ के सहारे-सहारे फैलने लगता है। चर्म की कठललामी स्पष्ट वर्धित इमूनता की स्थिति में शोथ के एक अत्यूर्जकि रूप की तरह विकसित होती है, इसीलिये करीब 60 70 प्रतिशत रोगियो मे ट्यूबेरकूलिन-परीक्षण होता है

ऊतगदलोचन--पर्वो की एक विशिष्ट गठिवत (ट्यूबेरकुलोइड) सरचना होती है (उपकलावत और विशाल कोशिकाए)। कुछ स्थलो पर अतर्स्यदन अविशिष्ट होता है (लसकोशिकाए और प्लाज्मा-कोशिकाएं)। गठिवत अधिकेद्र लगभग हमेशा ही अतर्स्यदन की किनारी पर पाये जाते है, जो सुचर्म के निचले भाग और अवचार्म वसा मे स्थित होते है। अतर्स्यदन के केद्र मे कमोबेश रूप से स्पष्ट पनीरी विमृति दिखाई देती है। बहुलन (कोशिकाओ की नव-विरचना) से सबधित परिवर्तन, स्कदक्लेश, कुभियों (विशेषकर शिराओं) मे रोध भी देखे जाते हैं, जिससे विमृति और व्रणन शुरू हो जाता है। अंतर्स्यदन के गिर्द अवचार्म वसा कुपोषित होने लगती है।

निदान तल्पिक एव ऊतलोचनी अध्ययन के परिणामो पर आधारित होता है। पार्विक ललामी और पिडलियो की कठमाल-चर्मता के साथ विभेदक निदान सबसे कठिन होता है। पार्विक ललामी मे तीव्र शोथ, ज्वर और कमजोरी होती है, क्षतियां पिडलियो की अग्र सतह पर उत्पन्न होती हैं और उनमे प्रायिक पुनरावर्तन, अपघटन या व्रणन की कोई प्रवृत्ति नही होती; शरीर में गठिक्लेश का कोई अधिकेद्र नही मिलता, पिर्के की जाच ऋणात्मक होती है। तल्पिकत जटिल केसो मे विशिष्ट चिकित्सा की कारगरता को भी ध्यान मे रखा जाता है। कठमाल-चर्मता मुलायम पर्विकाओ, व्रणित क्षेत्रो की मुलायम तली, व्रणो की कटी-फटी किनारियो और नासूरो द्वारा लछित होती है। रालार्बिक सीफिलिड में कोई आत्मगत अनुभूति नही होती, ग्रस्त क्षेत्र एक विशेष प्रकार की कठोरता से लछित होते है, उनका रग भूरा लाल होता है, सीफिलिसी पैठन के अन्य लक्षण उपस्थित रहते है।

चिकित्सा—यक्ष्मा की चिकित्सा आवश्यक है। पराबैगनी विकिरण, धूप-सेवन और विटामिनो व प्रोटीनो से समृद्ध आहार सुसंकेतित है। व्रणो का उपचार जिक-जिलेटिन पट्टियो से होता है। जिक आक्साइड और जिलेटिन का मिश्रण (aa25g) ग्लीसेरिन (60g) और पानी (120g) गर्म करके पट्टी पर पसार दिया जाता है और पैर को इसी पट्टी से कसकर बाध दिया जाता है (व्रण को पहले से एक निष्कीटित गजी से ढंककर रखना चाहिए)।

पुनरावर्तन के **निरोध** के लिये निम्न उपाय है--कुभिक गडबड़ियो (स्कद-शिराशोथ) की चिकित्सा, पैरो को ठड नहीं लगने देना, अगो (हाथ-पैर) को अत्यधिक थकान से बचाना।

प्रकीर्णित रूप

शैवाकवत गंठिक्लेश या कंठमालीय शैवाक

शैवाकवत यक्ष्मा अक्सर उन बच्चों को होता है जिनमें बहुत कमजोरी होती

है और तदनुरूप शारीरिक प्रवणता होती है जो क्लोम लसपर्वा या अस्थि व संधियो के यक्ष्मा से ग्रस्त होते है। यह सामान्य वृका की सक्रिय चिकित्सा मे वासिली अपघटन के उत्पादो के प्रकीर्णन के फलस्वरूप भी विकसित हो सकता है।

चर्म-क्षतिया प्रकीर्णित या ग्रुपो मे होती हैं, वे छोटी (जई के दानो जितनी बडी), चौरस या शंक्वाकार, पीडाहीन पिटिकीय, पिटिका-पीपिकीय या मुहासे जेसी पर्विकाओ के रूप मे होती हैं, जिनका रग भूराभ लाल या ज्यादातर सामान्य त्वचा जैसा ही होता है। पर्विकाओं की सतह पर नन्हे शल्क या शृगी नोकें मिल सकती है। निकट-निकट स्थित मशिकीय पर्विकाओ वपास्रावी दिनाई (कठमालीय दिनाई) से मिलती-जुलती हो सकती है। स्फोट अधिकाशत: सममित होते है और धड़ की पार्श्व सतहो, नितबों, चेहरे और विरल केसो मे होंठों की श्लेष्मल झिल्लियों पर अवस्थित होते है। क्षतिया स्वत:स्फूर्त रूप से गायब हो जाती हैं, पर बाद में फिर उत्पन्न हो जाती है। कोई आत्मगत अनुभूति नियमत: नही होती। आंतर अंगो के यक्ष्मा का इलाज हो जाने पर चार्म पुनरावर्तन नही होता। अपचोषित पिटिकाओ की जगह हल्की वर्णकता (या और भी विरल रूप से—नन्हे चित्तीदार दाग) बन जाती है। पिर्के-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है। कठमालीय शैवाक अब एक बहुत ही विरल रोग हो गया है।

ऊतगदलोचन—उपकलावत एवं विशाल कोशिकाओं का विशिष्ट अंतर्स्यदन मशिकाओं के गिर्द पाया जाता है। पनीरी (छेने जैसी) विमृति नहीं होती।

निदान जटिल नही होता और इसकी पुष्टि हर हालत मे धनात्मक पिर्के-परीक्षण से हो जाती है। स्फोटो को सीफिलिसी स्फोट से विभेदित करना चाहिए, जिसमे पिटिकाए एक अधिकेंद्र में भिन्न विकास-चरणो पर होती हैं और उनके साथ-साथ सीफिलिस के अन्य लक्षण भी उपस्थित रहते है; सीरमलोचनी परीक्षण धनात्मक होता है। लाल कांटल शैवाक में पिटिकाए किरमिजी लाल होती है, कुछ की परिरेखाए लंछक रूप से बहुभुजी होती हैं, केद्र में एक अवनमन-सा होता है, स्फोट के साथ-साथ खुजली भी होती है।

चिकित्सा उन्ही उपायों से होती है, जो चर्म-यक्ष्मा के अन्य रूपों के लिये प्रयुक्त होते है। शल्कन को प्रेरित करने वाले मलहम बाह्य चिकित्सा के रूप मे सुसकेतित हैं।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा

यह रोग अक्सर बचपन या कैशोर्य में होता है स्फोट हाथ-पैर की ऋजुकारी

सतहों पर, धड और चेहरे पर उत्पन्न होते है। मुख्य रूपलोचनी क्षतिया असख्य (कमोबेश रूप से जमघटों मे) कठोर भूराभ बैगनी पर्विकाएं है, जिनका आकार हेप के बीज के बराबर होता है। उनके केद्रो पर पूय जैसी विमृतिक खड्डिया पड जाती है। बाद मे पिटिकाओ पर नन्हे, गोल सतही व्रण बन जाते है, जिनके ठीक होने पर मुहर जैसे दाग रह जाते है, इनकी सीमारेखाए बैगनी होती है। अधिकेंद्र के विकास और दाग (क्षताक) बनने में चार से आठ सप्ताह लगते हैं। स्फोट एकबारगी से नही निकलते, इसलिये एक साथ भिन्न विकास चरण पर स्थित क्षतिया देखी जा सकती है। रोग वसत ऋतु के आरभ मे और शीतकाल मे पुनरावर्तित होता रहता है, लेकिन गर्मियो मे कभी भी व्यक्त नही होता। पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा अक्सर उन लोगों को होती है, जो लसपर्वो, अस्थियो या सधियों के यक्ष्मा से पीड़ित होते है या कठललामी के शिकार होते है। ट्यूबेरकूलिन-परीक्षण नियमतः धनात्मक होता है।

पिटिका-विमृतिक यक्ष्मा के निम्न रूप है—(1) आक्नित ('ऐक्नाइटिस' का लातीनी उच्चारण, कारक-चिह्न '-इस' को छोडकर), यह एक प्रकार की पीपिकाए है, जो स्कूली बच्चों को, यौन परिपक्वता के समय या इसके पूर्व होती है। ये सामान्य मुहासो से मिलती-जुलती होती है। क्षतिया सममित रूप से चेहरे पर होती है और विरलत: वक्ष पर तथा हाथों की ऋजुकारी सतहो पर भी होती हैं; इनके ठीक होने पर गहरे दाग रह जाते है; (2) फोलीक्लिस किशोरो एव नवयुवकों को धड एव पैरों की मशिकाओं (लोमकपों) की क्षतियो के रूप मे होती है; (3) एक्ने काखेक्तीकोरूम पिटिकीय पीपिकाओ के स्फोट है, जिनमें क्रेटर जैसे व्रण बनते है और उनके बाद चेचक जैसे दाग रह जाते हैं। रोग के इस रूप में ट्यूबेरकूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होते है क्योंकि शरीर की इमूनलोचनी प्रतिकारिता कम होती है।

ऊतगदलोचन—क्षति का उपादान सतही अधिचार्म व सुचार्म विमृति है, जो लसवत अतर्स्यदन से घिरा होता है। कुंभियो का शोथी अतर्स्यदन पाया जाना विशेष लछक है।

निदान—नन्हे, विशेषकर मुहर जैसे दाग (क्षताक), क्षतियो का स्थल, ट्यूबेरकूलिन-परीक्षण तथा ऊतलोचनी परीक्षण निदान मे सहायक होते हैं। वपाल मुंहासे से विभेदित करने में ध्यान रखना चाहिए कि यह रोग (वपाल मुहासा) उन्ही को होता है, जिन्हे काम पर (वृत्ति मे) अक्सर तेलों तथा इमल्शनो के सपर्क मे रहना पडता है। मुहासे के इस रूप मे क्षतिया अक्सर हाथ और पैर की ऋजुकारी सतहो पर होती है वे मशिकाशोथ के रूप मे प्रकट होती है, शोथ की प्रक्रिया तीव्र होती है, साथ मे ढेर सारे कोमेडोन (काले मुहासे) भी निकल आते है।

चिकित्सा PAS फ्थीवाजिड विटामिन A और D फीटिन तथा लौह

प्रसाधन मुखमार्ग से दिये जाते है यदि प्रतिसकेतित न हो तो पराबगनी विकिरण भी दिया जा सकता है

भविष्यवाणी अनुकूल होती है यदि आतर अगो का कोइ तीव्र यक्ष्मा नही होता।

बच्चों में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा

बच्चों मे चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा के मुख्य सिद्धात वे ही है, जो वयस्को के लिये है। प्राथमिक महत्त्व सामान्य चिकित्सा को ही दी जाती है, जिसका लक्ष्य है—आतर अगो के यक्ष्मा को दूर करना, चर्म में गदलोचनी प्रक्रियाओ के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटको को दूर करना और रोगी की सामान्य अवस्था सुधारना, ताकि याक्ष्मिक पैठन के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता बढ सके।

बच्चो में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा स्त्रेप्तोमीसिन से होती है, जिसे स्त्रेप्तोमीसिन सल्फेट और पाटोमीसिन (डीहाइड्रोस्ट्रेप्टोमीसिन के पांटोथेनिक लवण) के रूप मे दिया जाता है। पाटोथेनिक अम्ल, जो पाटोमीसिन का एक अवयव है, स्त्रेप्तोमीसिन के गरलकारी परोर्जिक प्रभाव का उपशमन करता है। बच्चों को स्त्रेप्तोमीसिन अतपेंशीय सुई के रूप में नित्य दो बार दिया जाता है; दैनिक खुराक 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चो के लिये 0 01-0.02 ग्राम प्रति किलोग्राम है, 5 से 8 वर्ष के बीच की उम्र के बच्चों के लिये 0.25-0.3 ग्राम और 8 से 14 वर्ष के बीच के लिये 0.3-0.5 ग्राम है। कुल खुराक 20 से 40 ग्राम है। स्त्रेप्तोमीसिन से सामान्य वृका, कठमाल-चर्मता और व्रणित एव मसेदार गठिक्लेशो से सबसे अच्छे थेरापिक परिणाम प्राप्त होते है।

स्त्रेप्तोमीसिन के बाद या इसके साथ-साथ फ्थीवाजिड, टूबाजिड, मेटाजामीड, तथा इजोनीकोटीनिक अम्ल हाइड्राजीड के अन्य उत्पाद भी दिये जाते हैं—उन मीकोबाक्तेरियो के विरुद्ध, जो स्त्रेप्तोमीसिन का प्रतिरोध कर लेते हैं (उसे सहन कर लेते है)। फ्थीवाजीन की दैनिक खुराक निम्न है—12 महीने तक के बच्चे के लिये 0.02-0.03 ग्राम प्रति किलोग्राम (तीन बार मे); 2 से 3 वर्ष के बच्चे के लिये 0.3-0.5 ग्राम (तीन बार मे); 3 से 7 वर्ष के लिये 0.6-0.7 ग्राम और 8 से 15 वर्ष के लिये 0.5 से 1.0 ग्राम। कुल खुराक 40 से 250 ग्राम तक हो सकती है। चिकित्सा के एक दौर मे स्त्रेप्तोमीसिन और फ्थीवाजिड की कुल खुराक और दौरो की सख्या रोग-प्रक्रिया की तीव्रता और दवा के प्रति सहनशीलता पर निर्भर करती है।

3 वर्ष के कम बच्चों के लिये PAS का सोडियम लवण 0 15-0 2g/kg प्रतिदिन की खुराको मे प्रलिखित किया जाता है· इसे तीन या चार बार में देते है।

3 से 5 वष क वच्चो का प्रतिदिन 0 5 ग्राम चार बार मे दिया जाता है . 5 वर्ष से अधिक के बच्चे के लिये दैनिक खुराक 6-8 ग्राम है। कुल खुराक 200 से 800 ग्राम तक होती है। दवाखाना खाने के एक घटे बाद दूध, क्षारीय खनिज जल या सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के 2 प्रतिशत साद्र घोल के साथ ली जाती है।

विटामिन D, सामान्य वृका के उन्ही रोगियो की चिकित्सा मे प्रयुक्त होता है, जिनके आंतर अगो मे कोई सक्रिय याक्ष्मिक प्रक्रिया नही होती, क्योकि यह स्थापित हुआ है कि यह विटामिन क्लोमो (फेफड़ो), लसपर्वो तथा अस्थियो मे रोग-प्रक्रिया को और भी तीव्र कर देता है। इसका उपयोग सामान्य वृका के व्रणित रूपो मं और पुनरावर्तन-निरोध मे सबसे अधिक वांछनीय है। 10 वर्ष तक के वच्चो को इसकी 15000-25000U की खुराक नित्य दो या तीन बार मे दी जाती है, 11 से 16 वर्ष के बच्चो को 30000-50000U नित्य दो या तीन बार मे दी जाती है।

वच्चो के चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा के समय उनके आहार में नमक नही देना चाहिए (विशेषकर यदि रोग व्रणित रूप में है), लेकिन साथ में प्रोटीन और विटामिन (ऐस्कोर्बिक अम्ल, रूटिन, कैल्सियम पाटोथेनाट आदि) प्रचुर मात्रा मे देने चाहिए।

धूप और पराबैगनी विकिरण का सेवन बच्चों तथा बडों दोनों ही के लिये वाछनीय, विशेपकर गर्म एवं शुष्क जलवायु वाले इलाके मे स्थित निरोगालयो मे, लेकिन याक्ष्मिक अधिकेंद्रों के रूप तथा उनकी सक्रियता और रोगी की सामान्य अवस्था पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इस तरह की चिकित्सा उपशमन-काल मे विशेष तौर पर उपयुक्त होती है।

चर्म-यक्ष्मा पर नियंत्रण का संगठन

चर्म-यक्ष्मा के प्रसार पर नियंत्रण के उपाय वैसे ही हैं, जैसे आतर अगो के यक्ष्मा मे। सामान्य यक्ष्मा और विशेष (चर्म-) यक्ष्मा के निरोध मे सामाजिक कदमो का महत्त्व बहुत अधिक है, जैसे—श्रम-सुरक्षा से सबंधित कानून, लोगो का जीवन-स्तर और सास्कृतिक स्तर ऊंचा करना, बच्चो के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सगठित युक्तियां अपनाना आदि। यक्ष्मा के प्रारभिक रूपो का अनुवेदन और उनकी यथासमय युक्तिसंगत चिकित्सा भी निरोधात्मक प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण कडियां है। यक्ष्मा के रोगियो को पर्याप्त समय तक खुली हवा मे रहना चाहिए, कार्य-स्थल पर पर्याप्त प्रकाश होना चाहिए। सोवियत सघ में यक्ष्मा के नियंत्रण मे, रोगियो को दर्ज करने, उन पर निगरानी रखने और उनकी चिकित्सा करने मे अन्य निरोधात्मक कार्य करने में यहां की प्रतियक्ष्मा की भूमिका प्रमुख

सोवियत-काल म यक्ष्मा पर नियत्रण के लिये सुनियोजित और सुसगठित प्रयत्नों से यहां यक्ष्मा और विशेषकर चर्म-यक्ष्मा की प्रायिकता में तेजी से ह्रास हुआ है। बच्चों में चर्म-यक्ष्मा का प्रारंभिक चरण मे ही अनुवेदन और उसकी यथाशीघ्र युक्तिसगत चिकित्सा भी यक्ष्मा के इस रूप की प्रायिकता मे कमी लाने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

चार्म लेइशमैनता या बोरोव्स्की रोग

इस रोग के अन्य पर्याय भी है—पेंडेह-क्लेश, आश्खाबाद-क्लेश, 'गोदोविक' (रूसी नाम, जिसका अर्थ है—'वत्सरिका'), पूर्वी रोग आदि। यह एक जानपदिक (किसी विशेष जनपद के लिये लाक्षणिक), चिरकालिक परजीविका चर्म-रोग है। इसका निमित्त कारण पी॰ बोरोव्स्की ने 1898 में ज्ञात किया था और उसका वर्णन प्रस्तुत किया था। यह रोग उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधों में पाया जाता है। सोवियत सघ में इसके प्रसार-केद्र मध्य एशिया (मुख्यत आश्खाबाद के क्षेत्र, बुखारा, समरकद, कोकांद आदि) और काकेशिया-पार के गणतंत्र (मुख्यत अजरबैजान के दक्षिणी इलाके) है। अन्य देशों से यह रोग अर्जित करने वाले रोगी पूरे सोवियत सघ के क्षेत्र में मिल सकते हैं।

हेतुलोचन और बहुमारीलोचन—लेइशमैनता का निमित्त कारण लेइशमानिआ ट्रोपिका एक सूक्ष्म प्राग्जतु है। इस जीवाणु को दिखाने के लिए पर्विका या लेइशमैनार्ब के परिसरीय अतर्स्यंद को दो उंगलियो से दबाकर वहा का स्थल रक्तहीन कर दिया जाता है, फिर स्काल्पेल से वहा चर्म मे हल्का-सा चीरा लगाया जाता है। चीरा की किनारी से ऊतक के टुकडे और ऊतक-द्रव स्काल्पेल से खुरच कर अलग करते है। इस द्रव्य का लेप (कांच के स्लाइड पर) तैयार किया जाता है और उसे रोमानोव्स्की-गिमूजा के रंजक से रंजित किया जाता है। ये जीवाणु (बोरोव्स्की-काय) अडाकार होते है, इनकी लंबाई 2-5 मिक्रोमीटर और चौडाई 1 5 से 4 मिक्रोमीटर तक होती है। इसके प्रोटोप्लाज्म मे दो नाभिक होते है—एक बडे-से अडे जैसा दिखता है और दूसरा सहायक नाभिक छड़ की तरह दिखता है (ब्लेफारोप्लास्ट)। लेप में लेइशमानिआ जीवाणु के प्रोटोप्लाज्म हल्के नीले रग से रजित होते है, बडा नाभिक लाल या ललछौंह बैगनी रग से और छोटा नाभिक गाढे बैगनी रग से रंजित होता है। ये परजीवी माक्रोफागो मे बहुत बडी संख्या मे, रक्त मे स्वतत्र ग्रुपों के रूप में और चर्म-क्षतियो मे पाये जाते हैं।

आदमियो मे रोग का सक्रमण फ्लेबोटोमस बालुका-मक्खी (एक तरह के मच्छरों) के काटने से होता है। बालुका-मक्खिया ये परजीवी किसी बीमार व्यक्ति

से प्राप्त करती है, गावो में होने वाली लेइशमैनता के लिये कृतक (कुतरने वाले) जीव (जैसे सूस्लिक, जर्विल) आदि भी पैठन के स्रोत हो सकते है। तल्पिक चित्र. निमित्त कारण के जीवलोचनी गुणो और वहुमारीलोचनी दृष्टि से लेइशमैनता के दो प्रकार होते है—(1) ग्रामीण या तीव्र विमृतिक या आरंभिक व्रणन वाला प्रकार (जतुक्लेशिक), (2) शहरी या विलबित व्रणन वाला, चिरकालिक प्रकार (मानुपक्लेशिक)।

प्रथम प्रकार की लैइशमैनता का निमित्त कारण लेइशमानिआ ट्रोपिका माजोर (मेजर) है, जिन्हे बालुका-मक्खिया पैठन-वाहक कृतको से आदमी मे फैलाती है। रोग के इस रूप के लिये अतर्शयन-काल अपेक्षाकृत अल्प है (एक से आठ सप्ताह तक, लेकिन औसतन दो-चार सप्ताह), रोग की कोप-अवधि भी अपेक्षाकृत कम है (तीन से छ महीने तक)। बीच मे ही खत्म हो जाने वाला रोग-प्रवाह भी देखने को मिलता है, जिसमे एक या दो महीने तक मे क्षताक पड जाते है।

अंतर्शयन-काल के अत में बालुका-मक्खी के दंश-स्थल पर भूरी आभा से युक्त, तीव्र शोथी चमकदार लाल अतर्स्यद उत्पन्न होता है। यह पेस्ट जैसा और कोमल होता है। एक या दो महीने मे (और बच्चों मे एक या दो सप्ताह मे) यह (अतर्स्यंद) अपघटित हो जाता है और गहरा, दर्दनाक व्रण बन जाता है। व्रण की किनारिया कटी-फटी और सुरगित होती है, तली असमतल, अपरदित और विमृतिक द्रव्य से आच्छादित होती है। अतर्स्यद और व्रण वर्धित होते हैं (व्रण का व्यास कई सेटीमीटर तक बढ सकता है)। बच्चों मे व्रण और भी जल्द बढ़ जाता है, रोग-प्रक्रिया लंबे समय तक बनी रहती है और अक्सर पूयकारी पैठन से क्लिष्ट हो जाती है। इसके फलस्वरूप विद्रधि, चर्मशोण और फ्लेग्मोन विकसित हो जाते है, जो लेइशमैनता का तल्पिक चित्र बदल देते है। दो-तीन महीने तक प्रक्रिया के बढने पर व्रणो का क्षताकन (व्रणपूरण) शुरू हो जाता है, जो कई सप्ताह या महीने मे पूरा होता है। इस अवधि मे व्रण की तली का कणीकरण शुरू हो जाता है, जिससे वह दानेदार लगने लगती है (मछली के अडो की तरह; मत्स्यांड लक्षण)। व्रणपूरण अक्सर मध्य स्थल से शुरू होता है, परिसर में व्रणित खात-सा रह जाता है। अत मे व्रण के स्थल पर गहरा क्षताक रह जाता है। जतुक्लेशिक प्रकार के रोग मे लेइशमानार्बो की सख्या बहुत बड़ी हो सकती है, कुछ रोगियो में तो 100-200 या इससे भी अधिक। ये शरीर के खुले हिस्सो मे (चेहरे, हाथ-पैर पर) होते हैं, पर अन्य चर्म-क्षेत्रों पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि गर्म जलवायु के देश में लोग पूरे शरीर को ढककर नहीं सोते जिसस बालुका-मक्खिया विभिन्न क्षेत्रो पर काटा करती हैं

शहरी चिरकालिक या विलंबित व्रणन वाली लेइशमनता का निमित्त कारण लेइशमानिया ट्रोपिका मिनार माय्नर) है जो बालुका मक्खी द्वारा रोगी व्यक्तियों से स्वस्थ व्यक्तियों में संक्रमण करता है रोग का यह प्रकार शहरों तथा घनी बस्तियो मे होता है। इसका अंतर्शयन-काल बहुत लंबा होता है (औसतन तीन से आठ महीने तक, यद्यपि एक-दो साल से लेकर चार-पांच साल तक भी संभव है) और इसका प्रवाह भी बहुत धीमा होता है (औसतन एक वर्ष)। इसका रूसी नाम 'गोदोविक' (वत्सरिका) इसी स्थिति को प्रतिबिंबित करता है। रोग अक्सर उन लोगों मे प्रकट होता है, जो पिछले वर्ष रोग-केंद्र के इलाके मे रुके थे। बालुका-मक्खी के दंश-स्थल पर एक भूराभ लाल गठिका बनती है (अक्सर चर्म की खुली सतह पर)। गठिका एक बादाम के आकार तक बढ जाती है और एक मोटी खड्डी से ढकी होती है। खड्डी गिरने के बाद व्रण बन जाता है। इसकी किनारिया कटी-छटी होती है, रिम की तरह उभरी होती है, अतर्स्यंदित और पेस्टी (पेस्ट की तरह) होती है। व्रण की तली दानेदार हो जाती है (कणीकरण के फलस्वरूप) और एक भूरी-पीली झिल्ली से ढकी होती है। व्रण के गिर्द का अंतर्स्यंदन उसे त्वचा से ऊपर उभार देता है। व्रणापूरण मे कई महीने लग जाते है।

लसकुंभीशोथ की उत्पत्ति चर्म-लेइशमैनता की एक बहुत ही लछक विशेषता है, इसे व्रण के परिसर मे मोटी डोरी के रूप मे परिस्पर्श से अनुभव किया जा सकता है। लसकुंभियो का मोटा होना और कुछ स्थितियो मे उन पर दृढ पर्वो का उत्पन्न होना (पार्विक लसकुंभीशोथ) ग्रामीण प्रकार की चर्म-लेइशमैनता के लिये अधिक लछक है। ये पर्व अपघटित होकर व्रण बना सकते है। लसकुंभीशोथ के अतिरिक्त लसपर्वशोथ भी पाया जाता है। ये दोनो ही लसकुंभीमार्ग द्वारा निमित्त जीवाणुओ के प्रसार लेइशमानता का गठिवत रूप विकसित होते है।

सामान्य वृका के बृकार्बो जैसी छोटी, मुलायम भूराभ या पीली-लाल गठिकाए कभी-कभी क्षताक पर या उसके गिर्द उत्पन्न हो जाती है। समानता और भी अधिक हो जाती है, क्योंकि डायेस्कोपी में 'सेब की जेली' का लक्षण नजर आता है। गठिका लंबे समय तक बनी रहती है और मुश्किल से ठीक होती है। इसे चर्म कहते है। यह अधिकाशत उन लोगों को होता है, जिन्हे बचपन मे ही यह रोग शुरू होता है।

रोग शुरू होने के पाच या छ महीने बाद तक लेइशमानता के तदनुरूप जीवाणुओ के प्रति स्थायी इमूनता विकसित हो जाती है।

ऊतगदलोचन—सुचर्म मे कणाबिक अंतर्स्यंदन, जो मुख्यत ऊतकोशिकाओ, जालकोशिकाओ आदि से बना होता है और न्युट्रोफीलो की अल्प सख्या पायी जाती है कुंभिया की अतर्कला आतरिक सतह पर एकपरती के बहुलन

आर शोफ के कारण उनमे स्पष्ट सकोचन और उनकी दीवारो मे अनर्स्यदन पाया जाता है। व्रण बनने के पहले अधिचर्म मे कटक्लेश देखने को मिलता है। असख्य बोराव्स्की-काय विशेषकर माक्रोफागो मे मिलते है, वे कोशिकाओ के भीतर भी मिलते है और बाहर भी।

निदान के आधार है—तल्पिक चित्र, व्रणो के परिसर मे पार्विक लसकुभीशोथ की उपस्थिति और निमित्त कारण (रोगकारी जीवाणुओ) की पहचान। रोग जिन जनपदो मे पाया जाता है, वहा इसका निदान सरल होता है, लेकिन इन क्षेत्रो के बाहर बहुत ही कठिन होता है। अतिम स्थितियो मे यह सूचना कि रोगी लेइशमैनता के क्षेत्र मे रहकर आया है, बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

चिकित्सा—प्रतिजीवक मोनोमीसिन कारगर होता है (विशेषकर ग्रामीण प्रकार की लेइशमैनता के इलाज मे), इसका 0 25 ग्राम नित्य 4 से 6 बार तक मुखमार्ग से दिया जाता है या 250000U की सुई पेशी मे 10 से 14 दिनो तक नित्य तीन बार तक दी जाती है। एंटीमलेरिया साधन दिये जाते हैं—ख्लोरोक्वीन फोस्फेट का 0.25 ग्राम दिन मे दो बार (खाने के बाद) तीन से चार सप्ताह तक दिया जाता है (बच्चो को उम्र के अनुसार नित्य 0 125 ग्राम की मात्रा में नित्य एक या दो बार दिया जाता है)। एटीमोनियल साधन (सोलूसुर्मिन, पर्याय —सोडियम एंटीमोनिल ग्लूकोनाट) अतर्शिरा मार्ग से दिया जाता है—5 प्रतिशत साद्र घोल के रूप में 5-10 मिलीमीटर नित्य (कुल 20 बार)। शहरी प्रकार की लेइशमैनता मे गठिकाओ को मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड (हिद्रोख्लोरिद) का 5 प्रतिशत घोल से (1 प्रतिशत सांद्र प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड मे या डीहिद्रोस्त्रेप्तोमीसिन के साथ मिलाकर) अतर्स्यदित किया जाता है। गठिकाए शीतोपचार, पारतापीय स्कदन और 10 प्रतिशत पीरोगालोल मलहम से भी नष्ट की जा सकती हैं। व्रणों की चिकित्सा स्थानिक रूप से मलहमो द्वारा होती है, ओक्सीकोर्ट, लोकाकोर्टेन (नेओमीसिन या बिओफोर्म के साथ), 2 प्रतिशत अमोनित पारद या 5 प्रतिशत सुल्फोनामीद से युक्त मलहम प्रयुक्त होते है। पुल्टिस का भी प्रयोग होता है। 1-5 प्रतिशत साद्र इख्थामोल-घोल, 0 5-1 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट के घोल या 0.1 प्रतिशत एथोक्सीडिआमीनो-आक्रीडोन लैक्टेट के घोल मे तर करके।

निरोध—निजी एव सामूहिक दोनो प्रकार के उपाय प्रयुक्त होते है। सामूहिक मे बहुमारी-क्षेत्र के कृंतक जतुओ और वालुका-मक्खियों के उन्मूलन का काम आता है। कृतकों का उन्मूलन करने के लिये उनके बिलों के पास ख्लोरोपिक्रिन रखा जाता है—बस्ती के गिर्द 15 किलोमीटर चौडे कटि-क्षेत्र मे। यह चौडाई बालुका-मक्खियो की उडान द्वारा निर्धारित होती है बालुका मक्खियो के अडे देने के स्थलों कूडा आदि पर ब्लीचिग पाउडर छिडका जाता है घरो मे DDT

या हेक्साक्लोरान छिडका जाता है

चूंकि बालुका मक्खी लोगो पर रात को ही आक्रमण करती है इसलिये गजी या अन्य कपड के पर्दे का कीड भगाने वाले अपनोदक लीजोल या तारपीन म गीला करके बिस्तर से ऊपर टाग देते है। दिन के समय त्वचा के खुले क्षेत्रो पर कीट-अपनोदक क्रीम या लौंग का तेल मलते हे। तीव्र गध वाले यू-डी-कालन या डीमेथिलफ्थालात भी कुछेक घटे तक बालुका-मक्खियो से बचाव कर सकते हे।

लेडशमैनता के जीवाणुओ से कृत्रिम सक्रिय इमूनीकरण से भी अच्छे परिणाम मिले है। जीवित लेडशमानिआ ट्रोपिका माजोर से युक्त द्रव-माध्यम की 0 1-0 2 मिलीलीटर मात्रा की बांह या जांघ मे अतर्चार्म सुई से दोनो ही प्रकार की लेडशमैनताओ के प्रति इमूनता उत्पन्न करती है। सुई के स्थल पर लेइशमैनार्ब उत्पन्न होता है, जो सामान्य पैठन से उत्पन्न लेडशमैनार्व की तुलना मे बहुत सुदम प्रवाह ग्रहण करता है।

वीरुसज चर्मक्लेश

वीरुसज (वीरुसजनित) चर्मक्लेश चर्मरोगो का एक अपेक्षाकृत बडा ग्रुप बनाते है, ये रोग अक्सर बहुत पाये जाते है। इस ग्रुप मे निम्न की गणना होती हे--विसर्प, कीलक, छुतहा मोलुस्क, नुकीला कडार्ब। ये रोग वच्चो के लिये (विशेपकर 5 वर्ष की उम्र से) बहुत सामान्य है। सबसे अधिक यह रोग 5 से 8 वर्ष के वच्चों मे पाया जाता है। वयस्कों के बीच 3-4 प्रतिशत चर्मरोगी वीरुसज चर्म-क्लेशो से ग्रस्त होते हैं और बच्चो के बीच करीब 9.5 प्रतिशत चर्मरोगी। वीरुसी फ्लोरा (उद्भिज) गर्भाशय के भीतर पहुंचकर भी बच्चे को ग्रस्त कर सकते है, लेकिन नवजात शिशु प्रसव के समय या अपने जीवन के प्रथम दिनों में इन रोगो से ग्रस्त नहीं होता, क्योकि मां के रक्त के साथ एटीवीरुसी प्रतिकाय स्थानांतरित होते है, जिससे भ्रूण और शिशु में भी असक्रिय इमूनता आ जाती है। इमूनता दो वर्ष की उम्र से कम होने लगती है, जिससे वीरुसज चर्मरोग विकसित हो सकते है। वीरुस शरीर में विभिन्न मार्गो से प्रविष्ट हो सकते हैं--चर्म द्वारा, सदूपित वस्तुओ से, श्लेष्मल झिल्लियों से होकर (रोगी व्यक्ति या वीरुस-वाहक व्यक्ति के साथ मैथुन या चुबन से), छीक, खासी आदि के समय निकलने वाली बूदो से। इमूनता की कमी या अनुपस्थिति के केस मे अंतर्शयन-काल कुछ दिन से लेकर दो या तीन सप्ताह लंबा हो सकता है।

सरल विसर्प

पर स्फोट और ग्रुपो मे उत्पन्न वस्निकाए, जिनका अतद्रव पहले तो स्वच्छ होता है, फिर धुधला पड जाता है। इसके प्रिय स्थल है—होठ (ओष्ठ-विसर्प), गाल (कपोल-विसर्प), नाक के पार्श्व (नासा-विसर्प), मुख-श्लेष्मला (मुख-विसर्प), शृगिका (शृगिका विसर्प) और जननेद्रिय (जननेद्रिय-विसर्प)। वस्तिकाए सूखकर खट्टी मे परिणत हो जाती है, जिसके गिरने पर कोई दाग नही रहता। मुख-श्लेष्मला पर फट गयी बस्तिकाओ का अपरदन पीड़ाजनक होता है, उसकी किनारिया अतिरक्तिल और शोफित होती हैं (श्वेतव्रणीय मुखशोथ)।

स्फोटो में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है, जिसे प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न है—अत्यधिक ठड के प्रति स्ट्रेस-जनित प्रतिक्रिया, पैठनजनित रोग, अतिश्रुति, नार्विक-मानसिक और शारीरिक चोट, कड़ी धूप (आतपघात)। सरल विसर्प अक्सर जठरात्र-कार्य मे गडबड़िया, क्लोमशोथ, गरलता, लू, ज्वरकारी रोगो (ज्वरकारी विसर्प) के बाद और ऋतुकष्ट के समय होता है।

स्फोट से पहले अक्सर अस्वस्थता की अनुभूति, कंपकपी, बेचैनी, जलन, क्षुधाहानि और अनिद्रा भी होती है। क्षेत्रीय लसपर्व वर्धित हो जाते है। निम्न तल्पिक रूपो मे भेद किया जाता है—(1) हल्का, जिसमे क्षतियों की संख्या कम होती है और वे बहुत जल्द अपचोपित हो जाती है, (2) शोफित, जिसमे चमकीली रक्तस्फीति और स्पष्ट सूजन होती है (जैसे गालो पर), (3) तीव्र रूप (सरल व्रणित विसर्प); (4) कटिबंधकवत सरल विसर्प, (5) अक्सर पुनरावर्ती रूप—होठो (सिदूरी सीमा) पर, नितबो और बाह्य जननेद्रियों पर।

ऊतगदलोचन—मुख्य लक्षण हैं—फुलाव, अधिचार्म कोशिकाओ का जालिकीय अवजनन और कटलय। फूलनी कोशिकाओ तथा विस्फारित रक्त-कुंभियों मे अतरानाभिकीय एओजीनोफीलिक अतर्वेशन और सुचार्म पिटिकामय परत मे हल्का परिकुभिक अतर्स्यदन पाया जाता है।

निदान—विशिष्ट तल्पिक चित्र मिलने पर निदान बहुत सरल होता है। कटिबधक विसर्प के विपरीत, सरल कटिबधकवत विसर्प मे परिसरीय नर्वो के वितरण के सहारे-सहारे पीडा नही होती। श्वेतव्रण में किनारिया बहुचक्रीय नही होती। जब सरल विसर्प जननेद्रिय पर होता है, तो इसे अपरदित कठव्रण से विभेदित करने में अपरदित सतह की बहुचक्रीय किनारी, तली पर कठोरन की अनुपस्थिति, प्रयोगशालीय परीक्षण के नकारात्मक परिणाम सहायक होते है। तीव्र कोमलता (कमजोरी) और ज्वर लिप्शोयेट्स-छापिन द्वारा निरूपित भग के तीव्र व्रण के लक्षण है।

चिकित्सा—शुष्ककारी और निष्पैठक दवाओं का बाह्य रूप मे प्रयोग होता है ये निम्न है—सिल्वर नाइट्रेट का 1-4 प्रतिशत घोल पिओक्तानिन (जेंशियन

वायोलेट) का 1-2 प्रतिशत घोल, ओक्सोलीनुम का 1-2-3 प्रतिशत या इंटर्फेरान का 30-50 प्रतिशत मलहम, बोनाफ्टोन, गोमीपोल, टेब्रोफेनुस, 1-3 प्रतिशत फ्लारेनल मलहम और सल्फर-कार्बोलिक पेस्ट (Ac carbolici 1 0, Sulfuris 1 5 Pastae Zinci 30 0)।

कैलेडूला, पोटाशियम परमैंगनेट, एथोक्सीडिआमीनो-आक्रीडीन लैक्टेट या हाइड्रोजन पेरोक्साइड से युक्त कसैल निष्पेठक घोलो से गराग मुह के सरल विसप मे प्रलिखित किया जाता है। प्रकीर्णित और अक्सर पुनरावर्तित होने वाली राग-प्रक्रिया का इलाज तीन दिनो तक हर छः घटे पर 2-3 मिलीलीटर इंटर्फेरोनोजेन की अंतर्पेशीय सुई से होता है। बहुसयोजी (पोलीवैलेट) प्रतिविसर्प टीका की अतर्चार्म सुई से भी लाभ होता है। (0 1-0.2 मिलीलीटर की सुई दो या तीन दिनो के अंतरालों पर दी जाती है, पूरी चिकित्सा पांच-पाच सुइयो के दो दौर मे सपन्न होती है, इन दौरों के बीच दस दिन का अतराल रखा जाता है)। पुनरावर्तन को रोकने के लिये गामा ग्लोबूलिन की सुई, स्वरक्त चिकित्सा और ज्वरकारी दवाओ का प्रयोग होता है। सहवर्ती पूयकारी पैठन विकसित होने पर विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवक दिये जाते है।

कटिबंधक विसर्प

इसे शिंग्लेस या जोना भी कहते है। इसका निमित्त कारण एक नर्वपर्ययी छन्य वीरुस है—स्ट्रोगीलोप्लाज्मा जोने। प्रतिजनिक सरचना और आदमी के भ्रूण-ऊतको मे प्रजनन की क्षमता मे यह छोटी शीतला (चिकेन पौक्स) के वीरुसो से मिलता-जुलता या उनके साथ समात्मिक होता है। कटिबधक विसर्प के रोगी के संपर्क मे आये बच्चे में छोटी शीतला का विकास इस विचार की पुष्टि करता है कि ये दोनो जातिया परस्पर संबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त, कई ऐसे केस भी पाये गये हैं, जिसमे रोग असली कटिबधक विसर्प से शुरू होता है और फिर छोटी शीलता मे परिणत हो जाता है, इसके स्फोट धड और हाथ-पैरो पर भी फैल जाते है।

अंतर्शयन-काल (सात या आठ दिन) के बाद अतिरक्तिल चर्म-क्षेत्रों पर वस्तिकाए ग्रुपो मे उत्पन्न होती हैं, ये चर्म-क्षेत्र एक या अधिक नर्वो के खडीय वितरण के अनुरूप होते हैं। स्फोट से पहले नर्व-वितरण के सहारे-सहारे पीडा के दौर, जलन, ग्रस्त क्षेत्रो मे रक्तम्फीति, सामान्य कमजोरी, कपकंपी और सिरदर्द के प्राग्लक्षण उत्पन्न होते है।

स्फुटित वस्तिकाएं मटर के दाने जितनी बडी और तनी हुई होती है; अतर्द्रव स्वच्छ सीरमी होता है। ये सगम करके सूक्ष्म शुक्तिक किनारी वाले पैठन-अधिकेंद्र बनाती हैं स्फोट विशिष्ट रूप से असमभित और होते हैं इसके निम्न

तल्पिक रूप ... (1) ... कटिबधक विसर्प प्रकीर्णित जिसमें दानफा प्रकाणित क्षतिया होता है, (2) रक्तस्रावी कटिबधक विसर्प, जिसमे वस्तिकाओं का स्वच्छ अन्तर्द्रव पूयिक हो जाता है, फिर जब प्रक्रिया सुचर्म मे गहरी होने लगती है, तो रक्तस्रावी हो जाता है, (3) विगलनकारी कटिबधक विसर्प, जो एक तीव्र रूप है इसमें वस्तिकाओं की तली विमृत होने लगती है और उनकी जगह पर क्षताक बनता है; (4) हल्का (पूर्वपाती) रूप; (5) बुल्लेदार रूप, जिसम वस्तिकाओं के साथ-साथ बुल्ला भी प्रकट होते है।

चर्म पर रोग की तीव्र अभिव्यक्तियो के गायब होने पर भी स्थायी नर्वपीडा और अपूर्ण लकवा (पेशियो का श्लथ रहना) प्रेक्षित होता है।

आखो मे प्रक्रिया का स्थित होना एक खतरनाक परिस्थिति है, जिसका अत कभी-कभी शृंगिका तथा पूरे नेत्र के व्रणन के साथ होता है। आखों को ग्रस्त करने वाला तीव्र रूप अक्सर बच्चो को नही होता। त्रिशाखी या चेहरे के नर्व का अपूर्ण लकवा और बधिरता अन्य क्लिष्टताएं है। रोग छादिकाशोथ और मस्तिष्कशोथ से भी क्लिष्ट हो सकता है।

वीरुसी पैठन की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न हे—पैठनजनित रोग, गरलता (गरणक्लेश), द्रव्य-विनिमय की गडबडियां, रक्त के रोग, नाविक एवं मानसिक अतिस्ट्रेस, शरीर का ठंडा होना (ठड में) और शारीरिक चोट। प्रक्रिया अक्सर ठंडे मौसम मे होती है और उग्र रूप धारण करती है (वसत और शरद ऋतु मे)। कटिबधक विसर्प किसी भी उम्र मे हो सकता है, पर बहुत छोटे बच्चो (शिशुओं) मे यह विरले ही होता है।

अविशिष्ट पुनरावर्ती प्रवाह वाले कटिबंधक विसर्प के वयस्क एवं वृद्ध रोगियों का परीक्षण करना चाहिए कि दुर्दम नौवर्ध या रक्त का कोई रोग तो नही है। कटिबधक विसर्प कभी-कभी चर्मरक्तता (हिमोडेमिआ) के कुछ रूपो से पूर्व प्रकट हो सकता है।

ऊतगदलोचन—अधिचार्म कोशिकाओ का फुलाव और जालिकीय अवजनन, अतरानाभिकीय वीरुसी अतर्वेशन और नर्व-रेशो मे अवजनक परिवर्तन देखे जाते है। तीव्र शोथी बहुरूपनाभिकीय अतर्स्यदन (मुख्यतः लसकोशिकीय तथा ऊतकोशिकीय प्रकृति का), शोफ और रक्तवाही एव लसवाही कुंभियों का विस्फारण भी पाया जाता है।

निदान—स्फोटो से पूर्व और उनके साथ दहकती पीडा और ग्रुपो में उत्पन्न वस्तिकाओ का रैखिक क्रम (ग्रस्त नर्वो के खडीय वितरण के अनुतीर) कटिबधक विसर्प को सरल विसर्प और चर्मशोण से विभेदित करता है।

चिकित्सा—निम्न दवाए प्रलिखित की जाती है—एटीवीरुमी दवाए

मेथीसाजोनुम या कूटीजोनुम (तीन से छ दिनो तक नित्य दो या तीन बार एक-एक टिकिया), इटेर्फेरोन, सैलीसीलेट और पीडाहारी (एसेटिल सैलीसीलिक अम्ल, अमीडोपीरीन, फेनिलबूटाजोन, रेओपीरीन), विटामिन B_1, B_2, B_6, B_{12}, C स्वरक्त-चिकित्सा, गामा ग्लोबूलिन की सुइया और इंटेर्फेरोनोजेन।

निम्न भौतिक उपचारो की सलाह दी जानी है—पराबैगनी विकिरण, सॉल्युक्स, परास्वन, गले की अनुकपी गुच्छिकाओ का अप्रत्यक्ष पारतापन, पारप्रवेगिक विद्युत्-धाराए, प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का विद्युत्प्रवहन, प्रोकेन से वृत्ताकार घेराव, 50 प्रतिशत इटेर्फेरोन से युक्त मलहम का स्वनिक प्रवहन।

तीव्र स्फोटों में महलमो से क्षोभकारी चिकित्सा और स्नान प्रतिसकेतित है। इस अवधि मे चिकित्सा पाउडरो के उपयोग तक सीमित रखी जाती है। प्रतिशोथी व निष्पैठक पेस्ट, क्रीम और मलहम बाद मे प्रलिखित किये जाते है—1-2 प्रतिशत ओक्सोलीनुम से युक्त मलहम, 0 5 प्रतिशत फ्लोरेनल मलहम, 20-50 प्रतिशत इटेर्फेरोन या इटेर्फेरोनोजेन से युक्त मलहम, अनीलीन रंजको का 1-2 प्रतिशत टिचर, स्टेरोइड हार्मोनो (ओक्सीकोर्ट, हिओक्सीजोन, डेमोजोलोन, लोरिडेन S) के मेल के साथ-साथ प्रतिजीवको से युक्त महलम और इमल्शन।

एटीवीरुसी मलहमों (बोनाफ्टोन, गोसीपोल, टेब्रोफेनुम इटेर्फेरोन) के साथ-साथ अनीलीन रंजकों का बाह्य प्रयोग चिकित्सा मे लाभकर होता है। स्फोट प्रकट होने पर रोगी को स्नान नही करना चाहिए।

निरोध—शरीर को ठड लगने और गरलता से बचाना चाहिए।

कीलक

हेतुलोचन और गदजनन—कीलक के सभी रूप छन्य चर्मपर्यपी वीरुसो या इनकी अत्यंत निकट की जातियों से होते है। रोग छुतहा है। स्वस्थ व्यक्ति मे यह रोग रुग्न व्यक्ति से सीधे सपर्क द्वारा संदूषित वस्तुओ के माध्यम सें सक्रमण करता है। रोग विकास को प्रोत्साहन निम्न घटकों से मिलता है—चर्म में चोटज क्षतिया, इसकी शुष्कता, इसके जल-वसीय आवरण में pH की कमी, नीलपर्यगता के साथ पनपू नर्वक्लेश या अतिस्वेदन। एक ही स्थल पर कीलकों का क्रमिक स्वारोपण भी पाया जाता है, जिसे वीरुसो की वर्धित विषालुता सप्रेरित करती है। यह माना जाता है कि केंद्रीय नर्वतंत्र रोग के गदजनन मे योगदान करता है, पर इसकी भूमिका अभी तक स्पष्ट नहीं है।

इस मान्यता की पुष्टि इस बात से होती है कि अनेक केसो मे शब्दाधान (सजेशन) और स्वापन (हाइप्नोसिस) से भी चिकित्सा हो जाती है। अंतर्शयन-काल कुछ सप्ताह से लेकर कई महीनो तक लबा हो सकता है (यह कृत्रिम आरोपण से

सिद्ध किया गया है)। कीलक के कई रूप है।

सामान्य कीलक का निमित्त कारण मालीटोर वेरूके नामक वीरूस है। यह अधिकाशतः बच्चो तथा युवको के हाथ-पैर पर होता है; चेहरे पर अपेक्षाकृत कम होता है।

स्पष्ट परिसीमित कठोर, पीड़ाहीन अर्धगोलाकार क्षतिया उत्पन्न होती है, जो त्वचा मे ऊपर उभरी रहती है। वे सामान्य त्वचा के रग के या भूरी या कत्थइ आभा के साथ होते है, शोथ नहीं होता। इनकी सतह दानेदार और रुखडी होती है और सरचना कभी-कभी पार्विक होती है। इनका आकार पिन के सिर से लेकर बाजरे के दाने के बराबर तक हो सकता है। इनकी बडी-बडी जमघटे बनती हैं, जो बाद मे सगम कर जा सकते है। तलवो व हथेलियों पर ये त्वचा से बहुत कम उभरे हुए दिखते हैं, उन पर शृगीक्लेश (शृगनता) होती है। कीलको की सख्या एक से लेकर कई दर्जनो तक हो सकती है।

ऊतगदलोचन—ऊतलोचनी चित्र अतिशृगनता और पिटिकार्वक्लेश से लंछित होता है।

चिकित्सा—स्वापन के साथ शब्दाधान कारगर सिद्ध होता है। विद्युत्स्कंदन या पारतापीय स्कदन, खुरचन, त्रिक्लोरो-एसेटिक अम्ल, ठोस कार्वन-डाई-आक्साइड या द्रव नाइट्रोजन से ठडा करके जमाना (शीत-चिकित्सा या शीत-विनाश) प्रयुक्त होता है। इटर्फरोन, कोल्खीसीन 2 प्रतिशत ओक्सोलीनुम, 1-3 प्रतिशत फ्लोरेनल ओर गोसीपोल से युक्त मलहम लगाये जाते है और क्षतियो का उपचार फाउलर (Fowler) के घोल या फेरेजोल (40 प्रतिशत फेनोल और 60 प्रतिशत त्रिक्रेजोल) से किया जाता है।

चौरस कैशोर्य कीलक बच्चो और किशोरो मे ही अधिकाशतः होता है। ये हल्की-सी उभरी हुई, बहुभुज या गोल आधार वाली चौरस कठोर क्षतिया है। इनकी सतह चिकनी होती है, आकार बाजरे के दाने से लेकर मसूर के दाने के बराबर तक हो सकता है। कुछ केसो मे इनका रग सामान्य त्वचा जैसा ही होता है, अन्य केसो मे पीताभ गुलाबी या पीताभ भूरा होता है। बहुसख्य चौरस कीलक अक्सर हथेली के पीछे, चेहरे (ललाट) पर, गरदन और प्रबाहु पर फैले होते हैं; एक पंक्ति के रूप मे कम ही होती है।

ऊतगदलोचन अतिशृगनता और कंटलय इसकी लंछक विशेषताए है।

निदान सरलता से हो जाता है। इस अवस्था को कभी-कभी चौरस शैवाक से विभेदित करना पडता है, जिसमे पिटिकाएं मोम जैसी चमक, केद्र में नाभि जैसे अवनमन, बैगनी-लाल रग और खुजली द्वारा शोथी अतर्स्यदन और आक्राति-केद्र के परिसर मे ललाभ-बैगनी सीमारेखा द्वारा लंछित होता है।

सामान्य कीलक

चिकित्सा—स्वापन के साथ शब्दाधान से चिकित्सा और
उपयोग होता है। फाउलर का घोल और मैग्नेशिया उस्टा (दो व
लिये 0.25-0 5 ग्राम नित्य तीन बार) प्रलिखित किये जाते
शृंगिघोलक मलहमों से होता है, जिनमे सैलीसीलिक, बेंजोइक न
और रेसोसिनोल होते है। पराबैंगनी किरणों या बक्की (Buck
लनामिक खुराकें, इंटर्फेरोन, गोसीपोल, प्रोपोलिस, कोलान्हे
ओक्सोलीनुम और बोनाफ्टोन प्रलिखित किये जाते है।

तलवो के कीलक सामान्य कीलको का ही एक रूप है।
कसना, तलवों में चोटज क्षति और पैरो (गोड़ों) का अतिस्वदन
सहायक होते हैं। ये कीलक कभी-कभी नख-सेज पर उत्पन्न हो ज
कठोर वर्धन से बहुत पीडा होती है। चुटैल होने के कारण चलने
है, वे ठेल से मिलते-जुलते होते हैं। वे अक्सर अल्प संख्या मे हो

ऊपर उभरे [illegible] से [illegible] वे भी [illegible] पिटिकावता और अतिश्रृंगता से लक्षित होते हैं।

चिकित्सा—द्रव नाइट्रोजन (शीत-चिकित्सा), कोल्खामीन-मलहम और क्षतियों पर 10-20 प्रतिशत वाले पोडोफीलिन घोल लगाने के लिये प्रलिखित किये जाते है। निम्न कसल प्रसाधन प्रलिखित किया जाता है-

Rp   Ac. salicylici 1.0

Ac. acetici 9.0

Collodii elastici 10.0

MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

कीलक के गिर्द चर्म पर जिंक-पेस्ट लेपा जाता है (आस-पास के ऊतकों की रक्षा के लिये) और कीलक पर 50 प्रतिशत दवाओं (उपर्युक्त) से युक्त कोलाइडी प्रसाधन लगाया जाता है। यह हर तीन-चार दिन में एक बार दोहराया जाता है। इसके बाद गोड को सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट से धोकर कैंची की धार से कोलाइडी झिल्ली और मुलायम हो चुका श्रृंगी द्रव्य दूर किया जाता है। प्रक्रिया तब तक दोहरायी जाती है, जब तक कीलक जड़ से समाप्त नहीं हो जाता। तलवे के कीलकों को दूर करने की एक कारगर विधि खुरचना भी है।

नुकीला (या आर्द्र) कंडार्ब

यह उन लोगों को होता है, जिन्हे अच्छी तरह सफाई से रहने की आदत नहीं होती। इसके वीरुस मैथुन से भी सप्रेषित हो सकते है।

सुजाक, त्रीखोनाद-जनित तथा अन्य मूलों के स्राव रोग के गदजनन मे महत्त्वपूर्ण होते है। नुकीले कंडार्ब जननेंद्रियों और मूलाधार के क्षेत्र में उत्पन्न होते है, विरल केसों मे वे काख में और स्तन के नीचे भी उत्पन्न होते है। नन्हे, मुलायम, नुकीले और गुलाबी कीलक बनते है। जब वे संगम कर जाते हैं, तो पिटिकाविक प्रवर्ध मिलता है, जिसकी सतह फूल-गोभी या रास्पे-बेरी जैसी दिखती है। ये प्रवर्ध मसृणित और व्रणित हो सकते है। कुछ क्षतियों का आधार बहुत सकरा होता है, जिसे पादिका कहते है। कडार्बो के बीच एक बुरी गध वाला स्राव भी जमा हो जाया करता है।

निदान—आर्द्र कडार्ब को चौरस (सीफिलिक) कडार्ब से विभेदित करना महत्त्वपूर्ण होता है, जिसमे आधार चौड़ा होता है, सहति कठोर व प्रत्यास्थ होती है, फांको मे बटा हुआ नही दिखता, उनके स्राव मे असख्य त्रेपोनेमा पालीडुमा जीवाणु मिलते हैं। द्वितीयक सीफिलिक चरण के अन्य लक्षण और रक्त की सीरमलोचनी जांच के धनात्मक परिणाम निदान में सहायक होते है। सीफिलिस के रोगी मे

नुकीले और चौरस कडार्ब दोनो ही एक साथ पाये जा सकते है।

चिकित्सा—पारतापीय स्कदन, विद्युत्-चीग, शीत-चिकित्सा और वाल्कमान के तीक्ष्ण चम्मच से खुरचन का उपयोग होता है। नुकीले कडार्ब को पोटाशियम परमेगनेट के तेज घोल, त्रिक्लोरो-एसेटिक अम्ल और 20 प्रतिशत पोडोफीलिन घोल से जलाया जा सकता है या फेरेजाल (चार भाग फेनाल और छ: भाग त्रिक्रेजोल के मिश्रण) से लेपा जा सकता है। जलाने (दागने) वाले पाउडर (रिमोसिनोल और टैल्कम बराबर-बराबर) तथा कोल्खामीन-मलहम प्रलिखित किये जाते है। नुकीले कडार्ब के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटक दूर किये जाते है।

छुतहा मोलुस्क

यह रोग बृहत्तम छन्य वीरुस मोलीटोर होमीनिस से होता है, जिसका छुतहापन प्रायोगिक तौर पर सिद्ध किया जा चुका है (जब इस रोग की क्षतियो का अतर्स्यद स्वस्थ व्यक्तियो के चर्म मे पुनरारोपित किये गये)। पैठन रोगी या वीरुसवाहक व्यक्ति से प्रत्यक्ष सपर्क से या उनकी सदूषित वस्तुओं के माध्यम से प्रसारित होता है। यह रोग बच्चो में अधिक प्रायिक है। बाल-प्रतिष्ठानो मे समय-समय पर बहुमारी फैल जाया करती है। अतर्शयन-काल दो सप्ताह से लेकर कई महीनो तक लंबा हो सकता है। मटर के दाने के बराबर और सामान्य त्वचा के रग की, या गुलाबी-भूरी (मुक्ता-सीप के रग की) एक पर्विका बन जाती है। यह अर्धगोलाकार होती है, केंद्र मे क्रेटर जैसा गड्ढा होता है। अदर का द्रव्य छेने जैसा होता है, जिसमे सूक्ष्मदर्शी से अवजनित चमकदार अडाकार उपकलीय कोशिकाए दिखती है, इनमे बडे-बडे प्रोटोप्लाज्मिक अंतर्वेश होते है (मोलुस्को के काय)। कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती। पर्विका अकेली भी हो सकती है और दर्जनों की सख्या मे भी (प्रकीर्णित क्षतिया)।

बच्चो मे इसके प्रिय स्थल चेहरे पर आखों के गिर्द, गरदन, वक्ष ओर हथेलियो के पीछे है। वयस्को मे क्षतिया अधिकाशत बाह्य जननेद्रियो, जघन और पेट पर होती हैं, जो मैथुन से पैठन की संभावना की ओर इंगित करता है। इसके निम्न तल्पिक रूप हे—अम्हौरी जैसा छुतहा मोलुस्क, जिसमे असख्य नन्ही क्षतिया उत्पन्न होती हैं; पादिकित छुतहा मोलुस्क, जिसमें डंठलनुमा (पादिकित) क्षतिया होती है; विशाल मोलुस्क, जिसमे क्षतिया सगम करके विशाल हो जाती है।

निदान मे निम्न लक्षणों से सहायता मिलती है—पर्विका के पार्श्वो को चिमटी से दबाने पर उसके मध्य से सफेद दलिया जैसा छेना-सदृश शृगी कोशिकाओं का समूह और मोलुस्कों के अंडवत काय निकलते हैं। कीलको के केंद्र में कोई

अवनमन (गड्ढा) नहीं होना, मुक्ता-सीप जैसी सतह भी नही होती।

चिकित्सा—पीटिका को चिमटे से दबाकर अतर्द्रव्य निकाल दिया जाता है या तीक्ष्ण चम्मच से खुरचकर दूर कर दिया जाता है। इसके बाद आक्रांति-क्षेत्र पर 5-10 प्रतिशत सांद्र आयोडीन-टिंचर लेपा जाता है, फिर 3 प्रतिशत ओक्सोलीनुम या इंटर्फेरोन से युक्त मलहम लगाया जाता है। पारतापीय स्कदन और शीत-चिकित्सा भी दी जाती है।

विसर्पी दिनाइ

विसर्पी दिनाइ को कापोसी (Kaposi) का मसूरिकावत स्फोट या टीकावत पीपिकाक्लेश भी कहते है। यह दद्रुग्रस्त (दिनाई से ग्रस्त) बच्चे को बुदबुदियानुमा चोरस शैवाक से पीडित व्यक्ति के संपर्क (ससर्ग) में आने के तीन से सात दिन बाद शुरू होता है। इसकी तल्पिक अभिव्यक्तिया प्रकीर्णित सरल विसर्प जैसी होती हे। चर्म के ललामित और शोफित क्षेत्रो पर यत्र-तत्र पिटिकीय-कुंभिक तथा पीपिकीय क्षतिया और एकल-कोष्ठीय वस्तिकाओ के प्रकीर्णित ग्रुप उत्पन्न होते है, जिनके मध्य में नाभि जैसा अवनमन होता है। वस्तिकाओं के अपचोषण के बाद सतही क्षताक रह जाते है। जननेंद्रियों तथा मुख-कोटर की श्लेष्मल झिल्लियां भी अक्सर ग्रस्त हो जाती है। स्फोट अचानक तीव्र गरलक्लेश, तेजी से आये ज्वर (39-40°C), धुंधली चेतना और यकृत व लसपर्वो के वर्धन के साथ उत्पन्न होते है। क्लोमशोथ, छादिकीय कुसंवृत्तियां, मस्तिष्कशोथ, कर्णशोथ, शृगीयुतिकाशोथ (कभी-कभी शृगिका के व्रणन के साथ) और जठरात्र की गडबडिया भी विकसित हो सकती है।

ऊतगदलोचन—वस्तिकाओ का स्थान अतराचार्म एव अवचार्म होता है। फुलावयुक्त अवजनन के लक्षण विशिष्ट होते है। टीकाजनित दिनाइ के अधिकेंद्र मे रिसालु अवजनित कोशिकाए पायी जाती है।

कुछ केसो में भविष्यवाणी प्रतिकूल होती है। यदि बच्चा कमजोर ओर नि शक्त है और आतर अग तथा नर्वतत्र भी रोग-प्रक्रिया की चपेट मे आ गये है, तो परिणाम घातक भी हो सकता है।

चिकित्सा—अवसवेदक, एटीहिस्टामीनिक व प्रशामक दवाओ तथा विटामिनो (विशेषकर B_1 व C) से चिकित्सा के साथ-साथ मेथीसाजोन (मार्बोरान) टिकियो (वयस्को के लिए छ दिनो तक सुबह-शाम 0.2 ग्राम) या 10 प्रतिशत सांद्र निलबन (वयस्को के लिये एक बडा चम्मच नित्य दो बार) के रूप मे प्रलिखित किया जाता है 6 वर्ष से ऊपर के बच्चो को मेथीसाजोन का 10 प्रतिशत सांद्र घोल चौथाई या तिहाई मध्यम चम्मच चार दिनो तक सुबह शाम दिया जाता है

नुकीले और चौरस कडार्ब दानो ही एक साथ पाये जा सकते हैं

चिकित्सा पारतापीय स्कंदन, विद्युत चीरा, शीत चिकित्सा और वाल्कमान के तीक्ष्ण चम्मच से खुरचन का उपयोग होता है। नुकीले कडार्ब को पोटाशियम परमैंगनेट के तेज घोल, त्रिक्लोरो-एसेटिक अम्ल और 20 प्रतिशत पोडोफीलिन घोल से जलाया जा सकता है या फेरेजाल (चार भाग फेनोल और छ भाग त्रिक्रेजोल के मिश्रण) से लेपा जा सकता है। जलाने (दागने) वाले पाउडर (रिसोर्सिनोल और टैल्कम बराबर-बराबर) तथा कोल्खामीन-मलहम प्रलिखित किये जाते हैं। नुकीले कडार्ब के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटक दूर किये जाते है।

छुतहा मोलुस्क

यह रोग बृहत्तम छन्य वीरुस मोलीटोर होमीनिस से होता है, जिसका छुतहापन प्रायोगिक तौर पर सिद्ध किया जा चुका है (जब इस रोग की क्षतियो का अंतर्स्यंद स्वस्थ व्यक्तियो के चर्म में पुनरारोपित किये गये)। पैठन रोगी या वीरुसवाहक व्यक्ति से प्रत्यक्ष संपर्क से या उनकी संदूषित वस्तुओं के माध्यम से प्रसारित होता है। यह रोग बच्चों मे अधिक प्रायिक है। बाल-प्रतिष्ठानो मे समय-समय पर बहुमारी फैल जाया करती है। अंतर्शयन-काल दो सप्ताह से लेकर कई महीनो तक लंबा हो सकता है। मटर के दाने के बराबर और सामान्य त्वचा के रंग की, या गुलाबी-भूरी (मुक्ता-सीप के रंग की) एक पर्विका बन जाती है। यह अर्धगोलाकार होती है, केंद्र मे क्रेटर जैसा गड्ढा होता है। अंदर का द्रव्य छेने जैसा होता है, जिसमें सूक्ष्मदर्शी से अवजनित चमकदार अंडाकार उपकलीय कोशिकाएं दिखती हैं, इनमें बडे-बडे प्रोटोप्लाज्मिक अंतर्वेश होते है (मोलुस्कों के काय)। कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती। पर्विका अकेली भी हो सकती है और दर्जनो की संख्या मे भी (प्रकीर्णित क्षतिया)।

बच्चों मे इसके प्रिय स्थल चेहरे पर आंखों के गिर्द, गरदन, वक्ष और हथेलियो के पीछे हैं। वयस्को मे क्षतियां अधिकांशतः बाह्य जननेंद्रियां, जघन और पेट पर होती है, जो मैथुन से पैठन की संभावना की ओर इंगित करता है। इसके निम्न तल्पिक रूप है—अम्हौरी जैसा छुतहा मोलुस्क, जिसमे असंख्य नन्ही क्षतिया उत्पन्न होती है; पादिकित छुतहा मोलुस्क, जिसमें डंठलनुमा (पादिकित) क्षतिया होती हैं; विशाल मोलुस्क, जिसमें क्षतिया संगम करके विशाल हो जाती है।

निदान मे निम्न लक्षणो से सहायता मिलती है—पर्विका के पार्श्वों को चिमटी से दबाने पर उसके मध्य से सफेद दलिया जैसा छेना-सदृश शृंगी कोशिकाओ का समूह और मोलुस्को के अंडवत काय निकलते है। कीलकों के केंद्र मे कोई

अवनमन (गड्ढा) नहीं होता, मुक्ता-माप जैसी सतह भी नहीं होती।

चिकित्सा—पर्णिका को चिमटे से दबाकर अंतर्द्रव्य निकाल दिया जाता है या तीक्ष्ण चम्मच से खुरचकर दूर कर दिया जाता है। इसके बाद आक्रांति-क्षेत्र पर 5-10 प्रतिशत सांद्र आयोडीन टिंचर लेपा जाता है, फिर 3 प्रतिशत ऑक्सोलीनुम या इंटर्फेरोन से युक्त मलहम लगाया जाता है। पारतापीय स्कंदन और शीत-चिकित्सा भी दी जाती है।

विसर्पी दिनाइ

विसर्पी दिनाइ को कापोसी (Kaposi) का मसूरिकावत स्फोट या टीकावत पीपिकाक्लेश भी कहते हैं। यह दद्रुग्रस्त (दिनाई से ग्रस्त) बच्चे को बुदबुदियानुमा चोरस शैवाक से पीड़ित व्यक्ति के संपर्क (संसर्ग) मे आने के तीन से सात दिन बाद शुरू होता है। इसकी तल्पिक अभिव्यक्तिया प्रकीर्णित सरल विसर्प जैसी होती है। चर्म के लम्नामित और शोफित क्षेत्रो पर यत्र-तत्र पिटिकीय-कुंभिक तथा पीपिकीय क्षतिया और एकल-कोष्ठीय वस्तिकाओ के प्रकीर्णित ग्रुप उत्पन्न होते है, जिनके मध्य मे नाभि जैसा अवनमन होता है। वस्तिकाओं के अपचोषण के बाद सतही क्षताक रह जाते हैं। जननेंद्रियों तथा मुख-कोटर की श्लेष्मल झिल्लिया भी अक्सर ग्रस्त हो जाती है। स्फोट अचानक तीव्र गरलक्लेश, तेजी से आये ज्वर (39-40°C), धुधली चेतना और यकृत व लसपर्वो के वर्धन के साथ उत्पन्न होते है। क्लोमशोथ, छादिकीय कुसंवृत्तियां, मस्तिष्कशोथ, कर्णशोथ, शृगीयुतिकाशोथ (कभी-कभी शृंगिका के व्रणन के साथ) और जठरात्र की गडबडिया भी विकसित हो सकती है।

ऊतगदलोचन—वस्तिकाओ का स्थान अतराचार्म एव अवचार्म होता है। फुलावयुक्त अवजनन के लक्षण विशिष्ट होते हैं। टीकाजनित दिनाइ के अधिकेंद्र मे रिसालु अवजनित कोशिकाए पायी जाती है।

कुछ केसो म भविष्यवाणी प्रतिकूल होती है। यदि बच्चा कमजोर और नि शक्त है ओर आतर अंग तथा नर्वतत्र भी रोग-प्रक्रिया की चपेट मे आ गये है, तो परिणाम घातक भी हो सकता है।

चिकित्सा—अवसवेदक, एंटीहिस्टामीनिक व प्रशामक दवाओ तथा विटामिनो (विशेषकर B_1 व C) से चिकित्सा के साथ-साथ मेथीसाजोन (मार्बोरान) टिकियो (वयस्को के लिए छ: दिनो तक सुबह-शाम 0 2 ग्राम) या 10 प्रतिशत सांद्र निलबन (वयस्को के लिये एक बड़ा चम्मच नित्य दो बार) के रूप मे प्रलिखित किया जाता है 6 वर्ष से ऊपर के बच्चों को मेथीसाजोन का 10 प्रतिशत सांद्र घोल चौथाइ या तिहाई मध्यम चम्मच चार दिनों तक सुबह शाम दिया जाता है

टीकाक्लेश

च्चे के लिये मार्बोरान की एक खुराक 0 04 ग्राम प्रति किलोग
ार) है, जो चार दिनों तक हर छ: घंटे पर दी जाती है। कई केर
। भी ठीक हो जाते है, जिन्हे प्रतिजीवकों (ओलेटेंड्रिन, सेपोरिन अ
गेबूलिन के साथ दिया जाता है। अनीलीन रजक और हेि
रीथ्रोमीसिन के मलहम बाह्य उपचार के लिये प्रयुक्त होते है।

निरोध—सरल विसर्प से ग्रस्त व्यक्तियो को बच्चे की देखभ
ाहिए।

ोकाक्लेश)

चेचक जैसी अक्सर अस्ममामित क्षतिया उत्पन्न होती है, जिनके केंद्रो मे एक गड्ढा-सा होता है, इनके बाद क्षताक नहीं रहता। क्षतिया पहले टीका (पाछ) के स्थल पर उत्पन्न होती है जो बाद मे पर्कीर्णित हो सकती है। कभी-कभी मुह और जननेंद्रियो की श्लेष्मल झिल्लिया और नेत्रिका भी ग्रस्त हो जाती हैं। लसपर्व या तो परिस्पर्शित नहीं होते, या बहुत हल्का-सा वर्धित होते हे। रोग के साथ-साथ थोड़ा बुखार भी रहता है, लेकिन सामान्य अवस्था कापोसी के मसूरिकावत स्फोटो की तरह नहीं गड़बड़ाती है।

चिकित्सा—गामा ग्लोब्युलिन की सुइया, प्रतिजीवक (ओलेटेट्रिन और ओमीसिन, सेपोरिन, एरिथ्रोमीसिन) और मेथीसाजोन प्रलिखित किये जाते है।

भग का तीव्र व्रण

लिपशोयेट्स-चापिन द्वारा निरूपित भग का तीव्र व्रण अधिकाशतः युवा लडकियो व स्त्रिया को होता है। इसका कारण डेडेरलेइन (Doederlein) द्वारा वर्णित योनिक बासिल (बासिलुस क्रासुस) है, जो सामान्य परिस्थितियों मे योनिक श्लेष्मला का कुणपतृण है (अर्थात् वह योनिक श्लेष्मला की मृत कोशिकाओ), उनके अपघटन के उत्पादो से अपना पोषण करने वाला सूक्ष्म उद्भिज है। व्रण के पूयिक स्राव मे अनेक मोटे ग्राम-धनात्मक छड दिखते है, जिनका सिरा उच्छेदित शकु की तरह होता है; ये ग्राम की विधि से या मेथीलेन नीले से रजित होते है।

गदजनन—यह माना जाता है कि ठड लगने से या पैठनजनित रोग के कारण जब लड़कियों या स्त्रियो का शरीर कमजोर हो जाता है, तब डेडेरलेइन के बासिल कुणपतृण से गदजनक रूप में परिणत हो जाते है। वर्धित परोर्जिक संवेदिता और इस निमित्त जीवाणु के प्रति शरीर का सवेदीकरण भी रोग-प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते है (रोगी मे बासिलुस क्रासुस की टीका से अंतर्चार्म परीक्षण और प्रतिक्रिया का पूरक स्थिरकरण अक्सर धनात्मक होते है)।

तल्पिक चित्र—रोग का आरंभ अचानक होता है और प्रवाह तीव्र होता हे, यह कुछ दिनो से लेकर दो सप्ताह तक चल सकता है। इसमे भग एव भगोष्ठो की श्लेष्मल झिल्लिया शोफित और लाल होती है और उन पर अत्यत पीड़ाजनक विमृतिक व्रण बन जाते है। व्रण सतही होते है, आधार मुलायम होता है, किनारिया सुरगित होती है और तली से सीरमी-पूयिक भूराभ पीला स्राव होता है। एक या कई व्रण उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर का तापक्रम ऊचा पाया जाता है, कपकपी होती है। व्रणो का शीघ्र ही उपकलाकरण और (व्रण) पूरण होने लगता है; इसके बाद खड्डी अलग होती है। क्षताक सतही और सूक्ष्म होते है। रोग छुतहा नही है।

निदान—क्षतियों की अतिकोमलता और आयुरी वृत्त में मैथुन-घटना की

अनुपस्थिति से क्योंकि रोग छाटी और कुमारी लडकियो को होता है) इस रोग को मुलायम एव कठोर कठव्रण और सीफिलिस के द्वितीयक चरण की अपरदेत पिटिकाओ स विभेदित किया जा सकता है मुलायम कठव्रण और सीफिलिस के अन्य लक्षणो और प्रयोगशालीय परीक्षण (सूक्ष्म-दर्शन और सीरमलोचनी परीक्षण) के परिणामो का भी निदान मे उपयोग होता है।

गठिक्लेशिक व्रण अक्सर अकेले (अलग-थलग) होते है, उनका प्रवाह चिरकालिक होता है, कोई तीव्र सवृत्ति नहीं होती। उनके स्राव मे मी॰ यक्ष्मा अनुवेदित होते हैं। पिर्के (Pirquet), माटो (Montoux) और कोख (Koch) के परीक्षण धनात्मक परिणाम देते है।

जननेंद्रियो पर चौरस शैवाक के विभेदक लक्षण है—ग्रुपो मे उत्पन्न वस्तिकाओ के फटने पर क्षतियो की सूक्ष्म बहुचक्रीय परिरेखाएं और अपरदन का तेजी से उपकलाकरण। जननेद्रिय पर पुनरावर्ती सरल विसर्प के रोगी अक्सर कोई पीडा नही महसूस करते।

चिकित्सा—पेनीसिलिन, सेपोरिन, सिग्मामीसिन, ओलेटेट्रिन, टेट्राओलेइन तथा एरीथ्रोमीसिन अक्सर स्वरक्त-चिकित्सा या गामा ग्लोबूलिन सुइयों के साथ प्रलिखित किये जाते है (अतिम की आधी खुराक की सुई तीन दिनो मे एक बार दी जाती है, कुल सुइया तीन या चार होती है)। शरीर को विटामिन ए और बी-सकुल से सतृप्त रहना चाहिए। अवसंवेदक तथा एंटीहिस्टामिनिक साधन ओर कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन नन्ही खुराकों में दिये जाते हैं, यदि स्पष्ट तीव्र शोथी प्रतिक्रिया और कुटाली प्रवाह प्रेक्षित होता है।

अत्यंत शोथी प्रतिक्रिया और तीव्र कोमलता की स्थिति में बाह्य उपचार के साधन प्रलिखित किये जाते है—शीतलकारी लोशन (बोरिक अम्ल का 2 प्रतिशत या सिल्वर नाइट्रेट का 0.25 प्रतिशत घोल) लगाया जाता है और इसके बाद जडी-बूटी (गुलदाउदी, गेंदा, सत जोन के वर्ट, सहस्रपर्णी) के काढे के घोल मे या पोटाशियम परमैंगनेट के हल्के घोल मे कटिस्नान कराया जाता है। डेर्माटोल-युक्त पाउडरो या लोकाकोर्टेन अथवा हिओक्सीजोन के मलहम के साथ समान मात्रा मे केलेंडुला का महलम मिलाकर स्नान के बाद लगाया जा सकता है।

जीनचर्मक्लेश या विरासती चर्मरोग

सामान्य सूचनाएं

कुछ चर्मक्लेशो के विकास मे आनुवंशिक घटको की भूमिका को सिद्ध करने वाले केसों तथा खानदानी चर्मरोगों के वर्णन तल्पिक चर्मलोचन में बहुत पहले से

सचित होत रहे है, तभी से, जब आयुरी जतिकी आयुर की स्वतत्र शाखा के रूप मे अलग भी नही हुई थी। सबसे पहले मीनचर्मता से ग्रस्त रोगियो का वंशवृक्ष ज्ञात हुआ था, यह रोग वश की कई सततियो के लोगो मे पाया गया। पिछली शती के अत मे मेडेल द्वारा आविष्कृत सततियो मे प्रबल एव अवगामी (क्षीण) विशेषताओं के प्रकट होने के नियम की सहायता से ऐसी जतिकीय रीतिया प्राप्त हुई, जिनसे अनेक चर्मरोगों के विकास मे आनुवशिकता की भूमिका स्पष्ट की जा सकी। ये रीतिया है—रोगी के वशवृक्ष का अध्ययन (वश मे किसे-किसे विचाराधीन रोग हुआ है), जुड़वे बच्चो का अध्ययन (एकयुग्मी और द्वियुग्मी यमजो मे चर्मलोचनी गदलोचन का अध्ययन) और कोशिका-जतिकीय अध्ययन (कैरिओटाइप और सेक्स ख्रोमाटिन की रज्यकाय-सचियों का अध्ययन) और चर्मलेखो (मुख्यत हथेलियो पर पिटिकीय मेडो—खाइयो के नमूनों) का अध्ययन। इन खोजों के आधार पर कुछ चर्मरोगो को सामान्य चार्म गदलोचन की श्रेणी से अलग स्थान दिया गया (जीनीय चर्मक्लेश या जीनचर्मक्लेश) और यह स्थापित किया जा सका कि आनुवशिक चर्मक्लेश जीन मे उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते है; उनके विरासतन के तथ्य और प्रकार भी स्थापित किये गये।

पिछले समय से जतिकीय खोज-रीतियो का भडार काफी बढा है; इसका कारण है जतिकी का विकास, जिससे जीन की भौतिक सरचना और विरासतन की प्रक्रिया को निर्धारित करने वाले उसके रासायनिक एव भौतिकीय गुण ज्ञात हुए है। आण्विक जतिकी, इमूनो-जतिकी जैसी नवीन शाखाए उत्पन्न हुई। इनमें एजाइमो, नुक्लेइक अम्ल के विनिमय तथा शरीर मे द्रव्य-विनिमय के अन्य उत्पादों की उत्पत्ति और कार्यो मे गड़बड़ी लाने वाली सामान्य परिस्थितियो का अध्ययन होता है। आधुनिक चर्मलोचन में चर्मक्लेशों और उनके प्रति जन्मजात (विरासती) प्रवणता के अध्ययन में जतिकीय विधियो का विस्तृत उपयोग हो रहा है।

जीनचर्मक्लेश रोगी के पूर्वजो की जननकोशिका में उत्परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होते है, फिर भी उत्परिवर्तित जीन की उपस्थिति को सिद्ध करना और वश मे उसके प्रसार-पथ को ज्ञात करना हर मूर्त्त केस में सभव नहीं होता। इसके कारण है—आदमी मे नये उत्परिवर्तनों का उत्पन्न होना (जो पहले नहीं थे) और परिवार मे अवगामी प्रकार के सदस्यों की संख्या कम होना। इसके अतिरिक्त, विरासती चर्मक्लेश जन्म से नही व्यक्त होते—उनका जन्मजात होना आवश्यक नही है और जन्मजात चर्मरोग का आनुवशिक (विरासती) होना भी आवश्यक नही है। जन्मजात चर्मरोग विरासती भी हो सकते हैं और अकुर-रुग्नता (गर्भधारण के चौथे सप्ताह से लेकर चौथे-पांचवे महीने तक की अवधि में भ्रूण मे जीवाणु-पैठन के कारण या गर्भधारण के चौथे-पाचवें महीने से तक की

अवधि मे पैठन) के कारण भी हो सकता है। (अंकुर, embryo और भ्रूण, foetus मे अतर करना आजकल आयुर-साहित्य मे गलत माना जाता है।--अनु.)

भावी चर्मलोचको को याद रखना चाहिए कि एक आविर्नकल (या मिथ्या उत्परिवर्तन) नामक रोग भी है, जिसमे बाह्य घटको के प्रभाव से कोई जीन किसी उत्परिवर्तन-विशेष की 'नकल' करने लगता है, फलस्वरूप तल्पिकत' विरासती रोग से मिलते-जुलते रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे तारुणिक या सुदम काला कटक्लेश (वर्णक-पिटिकीय कुपोषण का विरासती सुदम रूप) और दुर्दम काला कटक्लेश (अविरासती दुर्दम वर्णक-पिटिकीय कुपोषण)। जीननकल का अस्तित्व भी सभव है, ये ऐसे विरासती रोग है, जो तल्पिक लक्षणो मे एक-दूसरे की नकल करते है, लेकिन भिन्न उत्परिवर्तित जीनो से उत्पन्न होते है (जैसे स्वाकायिक प्रबल और एक्स-सपर्की अवगामी मीनचर्मता)।

विरासती चर्मक्लेशो मे रज्यकायिक विपथन (रज्यकायो की संख्या ओर संरचना में परिवर्तन) नियमत. नहीं मिलता है। अधिकांश जीनचर्मक्लेश जंतिकीय उपकरण मे अपेक्षाकृत सूक्ष्म परिवर्तनों, अर्थात् जीन में उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते है; इन उत्परिवर्तनों के परिणाम (द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया में परिवर्तन, खमीरी रुग्नता खमीरों के कार्य या उत्पादन मे गड़बडी आदि) जीवरासायनिक परीक्षणो स ज्ञात हो जाते हैं।

फिर भी वर्तमान ज्ञान के आधार पर जतिकीय कारणों से उत्पन्न खमीरी दोष ज्ञात करने के प्रयत्न जीनचर्मक्लेश के अनेक रोगियो मे असफल रहे। वर्तमान समय में सभी जीनचर्मक्लेशों का वर्गीकरण या तो रूपलोचनी आधार पर होता है (शृगनता की गडबड़ी, वर्णकीय, बुल्लेदार आदि) या विरासतन प्रकार के अनुसार (स्वकायिक, प्रबल, अवगामी आदि)।

विरासती शृंगीक्लेश

मीनचर्मता--इस शब्द से करीब दर्जन भर अवस्थाओं को द्योतित किया जाता है, जो तल्पिकत' तो समान होते है, पर रोगलोचनी रूप से भिन्न होते है, ये अवस्थाए शृगन-प्रक्रिया मे सामान्य गडबडियों से उत्पन्न होती हैं। कुछ में तो चर्म की आक्रांति के साथ-साथ विभिन्न आंतर अंगों और तत्रो की भी गडबड़ियो के उन्ही रूपो का वर्णन करेंगे, जो चर्मलोचनी अनुशीलन में अक्सर मिला करते है।

सामान्य मीनचर्मता--यह स्वकायिक प्रबल प्रकार से विरासनित होता है। रोग की अभिव्यक्ति एक से चार वर्ष की उम्र से शुरू होती है, 10 वर्ष की उम्र मे चरमोत्कर्ष पर होती है और पूरे जीवन भर बनी रहती है; सिर्फ यौन परिपक्वता के समय और गर्मियों में कुछ ठीक होती है प्रक्रिया प्रकीर्णित प्रकृति की होती है

चम शुष्क और मोटी हो जाती है, शल्कन होता है (ललामी के बगैर)। मशिकीय शृगन अक्सर प्रेक्षित होता है। स्वेदक और वसाल ग्रथियो की क्रियाशीलता बहुत मद हो जाती है, यहा तक कि बिल्कुल रुक भी जा सकती है। आक्रांति के मुख्य स्थल है—हाथ-पैर की ऋतुकारी सतहें (कोहनी, घुटने), गुल्फ जहा शृगी द्रव्य की अच्छी-खासी परत होती है और पीठ (मुख्यत· त्रिकास्थि का क्षेत्र)। ललाट और गाल की त्वचा बचपन मे आक्रात हो सकती है, पर बाद मे शल्को से मुक्त हो जाती है। अतरानितविक तथा संधिक पुटको, काख और जघामूल के क्षेत्र मे और जननेद्रिय पर यह रोग नियमत नही होता। सामान्य मीनचर्मता की तीव्रता के अनुसार शल्को के आकार और रग बदलते रहते हैं—नन्ही, पतली, सफेद भूसी की तरह से लेकर चौडे, बडे और काले।

चर्म की शुष्कता और शृगी परतो व शल्को के संचय और प्रकार के अनुसार सामान्य मीनचर्मता के कई तत्पिक रूपो मे भेद किया जाता है। चर्मशुष्कता सबसे हल्का रूप है, जिसमें चर्म शुष्क रहता है और शल्कन भूसी की तरह होता है। सरल मीनचर्मता मे ये पटलित शल्क होते है, जो मोटे हो चुके, शुष्क, कडे और रुक्ष चर्म के साथ जुड़े रहते है। चमकदार मीनचर्मता मे शृगी द्रव्य बहुत अधिक सचित हो जाते हैं—मुख्यत· हाथ-पैर पर, लोमकूपो (लोममशिकाओ) के मुहानो मे। शल्कों में मुक्ता-सीप जैसी एक विशेष चमक होती है। क्षतिया कभी-कभी फीतो के रूप मे स्थित होती है, इसीलिये सांप के शल्क से मिलती-जुलती होती हैं। ये शल्क अपेक्षाकृत अधिक मोटे, अधिक शृंगित और गहरे काले रग के होते है, इनमे गहरी घाइया होती है (सर्पवत मीनचर्मता)। अत में, सामान्य मीनचर्मता का बहुत ही विख्यात रूप है—साहीनुमा मीनचर्मता। इसमें शृंगी द्रव्य के मोटे काटे जैसे भाग त्वचा से 5-10 मिलीमीटर ऊपर उभरे रहते है और कुछ सीमित चर्मक्षेत्रो पर साही के कांटों की याद दिलाते हैं, विशेषकर हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर। बाल और रोएं भी शुष्क, पतले और विरले हो जाते है। नख भगुर और पतले हो जाते है या (अधिकांशत·) मोटे हो जाते हैं।

मीनचर्मता के हल्के रूप से ग्रस्त रोगियो की सामान्य अवस्था काफी सतोषजनक होती है, रोग से उन्हे कोई परेशानी नहीं होती। तीव्र मीनचर्मता से ग्रस्त बच्चे का शारीरिक विकास बहुत मदित हो जाता है। विभिन्न पैठनो के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता कम हो जाती है, बच्चे में चर्मपूयता, क्लोमशोथ और कर्णशोथ के विकास की प्रवृत्ति दिखने लगती है, जो घातक भी हो सकते है।

ऊतगदलोचन—अतिशृगनता के साथ-साथ अक्सर कणमय परत भी मोटी हो जाती है। लेकिन हल्की मीनचर्मता परत का आशिक या पूर्ण लोप हो जाता है। बड़े-बडे मशिकीय केरा टिनी (केराटोटिक शृंगिक) प्लग नजर आते है। यह सब

सरल मीनचर्मता के लिये लछक है। प्लगो द्वारा उत्पन्न दाव मशिकाओ और वपा-ग्रंथियो के निचले भाग मे कुपोषण शुरू हो जाता है। मालपीगी पग्त पतली हो जाती है। सुचर्म मे बहुत कम मात्रा में परिकुभिक लसकोशिकय अतर्स्यदन देखा जा सकता है। कोलाजनी रेशो का काचरकरण और रजतप्रेमी रेशो का (स्वेद-ग्रंथियों और लोमहर्षक पेशियों के गिर्द) मोटा होना सुचर्म की गहरी परतो मे प्रेक्षित होता है। सामान्य मीनचर्मता के सभी रूपो मे रूपलोचनी परिवर्तन सिर्फ मात्रात्मक होते हैं, गुणात्मक नही।

निदान—सामान्य मीनचर्मता के तल्पिक और रूपलोचनी निदान मे कोई कठिनाई नही होती। चर्मशुष्कता के निदान मे एक सहायक रीति प्रयुक्त होती हे—स्पैचुला से त्वचा पर रेखा खीचने पर भूसी जैसा शल्कन आटे की तरह सफेद पट्टी के रूप मे प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो तथा नितबो पर पिन के सिर जितनी बडी गठिकाए नजर आती है, जिनका रंग भूरा या हल्का गुलाबी (कभी-कभी नीली आभा के साथ) होता है। चमकदार मीनचर्मता मे शल्को का मध्य भाग गाढे रंग का होता है, किनारियां कुछ उभरी होती हैं और हल्के रंग की होती है, क्योकि वे विलगित होने की दशा मे होती है। इससे इसे लोम-शैवाक से विभेदित किया जा सकता है, जिसमे हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो पर बाजरे जैसी रुक्ष पिटिकाए पायी जाती हैं; इनका रग सामान्य चर्म की तरह या हल्का लाल होता हे। इन पिटिकाओं का शीर्ष शृंगी शल्क से बना होता है, जो मशिकाओं के फूले मुहानो में कसकर फंसे होते है। काटल शैवाक लोमकूपो के मुहानो में नन्हे शृंगिक उभारो द्वारा लछित होता है; उभार कुछेक मिलीमीटर ऊचे होते हैं; उभार के भीतर अक्सर टूटा हुआ और स्प्रिंग की तरह ऐंठा हुआ लोम मिलता है।

जतिकीय कारणों से उत्पन्न सामान्य मीनचर्मता को अर्जित मीनचर्मता से विभेदित करना चाहिए। यह विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योकि रोग शुरू होने के समय निदान का विशेष लक्षण हमेशा नहीं होता। विरासती मीनचर्मता प्रथम बार कभी-कभी वयस्क उम्र मे व्यक्त होती है, जबकि अर्जित मीनचर्मता बच्चे को भी हो सकती है (कभी-कभी इसके साथ अकुरार्बिक उत्वर्ध भी होता है, जिसे लसकणार्वक्लेश या लसक्रव्यार्ब कहते है)। अर्जित मीनचर्मता कुष्ठ और विटामिन ए की प्राथमिक एव द्वितीय कमी से युक्त पोषणात्मक गडबडियो के साथ भी हो सकती है।

चिकित्सा की कारगरता बहुत हद तक मीनचर्मता के प्रकार पर निर्भर करती है। इसके लिये रोग के तल्पिक लक्षण स्पष्ट होने चाहिए। लंबे समय तक विटामिन ए का प्रयोग सुसकेतित है—20-30 (बच्चो के लिये 10-15) बूंद सांद्रित विटामिन ए भोजन से पहले या भोजन के समय भूरी रोटी 'राई रोटी' के टुकडे पर दिन में तीन बार करीब चार स छ सप्ताह तक दिया जाता है बाद में

चिकित्सा कइ बार दोहराया जाती है। अतर्पेशीय सुई के लिये विशेष रूप से निर्मित विटामिन ए से अधिक लाभ होता है। तेल मे इसका घोल 0.5 मिलीलीटर (50000U) की मात्रा मे सुई द्वारा एक दिन बीच देकर आधान कराया जाता है (प्रथम दो से चार सुइयां) ओर इसके बाद खुराक 1.0 मिलीलीटर तक बढायी जाती है, पूरी चिकित्सा 15 से 20 सुइयो द्वारा होती है। बेहतर आत्मसातन के लिये विटामिन A के साथ विटामिन इ भी देना वाछनीय है–दिन मे एक बार एक मध्यम चम्मच मुखमार्ग से, या अतर्पेशी सुई से (एरीविट, 1.0 मिलीलीटर की सुई नित्य या एक दिन बीच देकर, कुल 20 बार)। एविट की भी सलाह दी जाती है, यह तैल घोल है जिसके 1.0 मिलीलीटर मे करीब 100000U (35 मिलीग्राम) विटामिन A और 100 मिलीग्राम विटामिन ई होता है। अतर्पेशीय सुई नित्य या एक दिन बीच देकर दी जाती है (कुल 20 से 30 सुइया; एविट की सुइया कुछ दर्दनाक होती है) या इस प्रसाधन का एक कैप्सूल दिन में दो या तीन बार दिया जाता है।

लोहे, फीटिन, कैल्सियम आदि के प्रसाधन मीनचर्मता के रोगियो को अक्सर बलवर्धक चिकित्सा के रूप मे निर्दिष्ट किये जाते है। विटामिन बी-संकुल और गामा ग्लोबूलिन की सुइया दी जाती हैं, रक्तचिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। तीव्र केसो की चिकित्सा स्टेरोइड हार्मोनों से की जाती है, चर्मपूयता होने पर साथ मे प्रतिजीवक भी दिये जाते हैं। थिरोइडिन की नन्हीं खुराके (बच्चों की–0.01-0 02 ग्राम दिन में एक या दो बार और बडो की–0.03-0.05 ग्राम दिन में एक या दो बार) 15 से 20 दिनों तक निर्दिष्ट की जाती है–ढालवत ग्रथि की अवक्रिया-अवस्था मे जिससे द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया मद होने लगती है।

निम्न युक्ति से भी लाभ होता है–38-39°C तक गर्म पानी से स्नान के बाद चर्म को मुलायम करने वाला कोई मलहम या क्रीम लगाना, जिसमें 1 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल मिलाते हैं या 0 25 प्रतिशत पोलीविटामिन-लवण से युक्त कोई मलहम या क्रीम लगाना (ताकि शल्क अच्छी तरह अलग हो जाया करें)। सल्फरकृत हाइड्रोजन के पानी या समुद्र-जल में स्नान, खनिज-स्रोतों का पक लेपना आदि भी सुसंकेतित हैं।

भविष्यवाणी–सामान्य मीनचर्मता के हल्के रूपो मे युक्तिसगत चिकित्सा से काफी अच्छी सफलता मिल सकती है। लंबे समय तक विटामिन ए से चिकित्सा, जल-चिकित्सा, तेलो का लेप (विटामिन से युक्त क्रीम, वनस्पति तेल, आसवित जल के साथ समान मात्रा में लानोलिन मिलाकर, स्पेर्मासेटी क्रीम, लाई, कभी-कभी 0 25-0 5 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड से युक्त क्रीमो का उपयोग) रोग को उग्र होने से रोकता है तीव्र प्रवाह में कम अनुकूल होती है

सरल मीनचर्मता के लिये लछक है। प्लगो द्वारा उत्पन्न दाब मशिकाओ और वपा-ग्रथियो के निचले भाग मे कुपोषण शुरू हो जाता है। मालपीगी परत पतली हो जाती है। सुचर्म में बहुत कम मात्रा मे परिकुभिक लसकोशिकय अतर्स्यदन देखा जा सकता है। कोलाजनी रेशो का काचरकरण और रजतप्रेमी रेशों का (स्वेद-ग्रथियों और लोमहर्षक पेशियो के गिर्द) मोटा होना सुचर्म की गहरी परतो मे प्रेक्षित होता है। सामान्य मीनचर्मता के सभी रूपो मे रूपलोचनी परिवर्तन सिर्फ मात्रात्मक होते है, गुणात्मक नहीं।

निदान—सामान्य मीनचर्मता के तल्पिक और रूपलोचनी निदान में कोई कठिनाई नही होती। चर्मशुष्कता के निदान मे एक सहायक रीति प्रयुक्त होती है—स्पैचुला से त्वचा पर रेखा खीचने पर भूसी जैसा शल्कन आटे की तरह सफेद पट्टी के रूप मे प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो तथा नितबो पर पिन के सिर जितनी बडी गठिकाएं नजर आती हैं, जिनका रंग भूरा या हल्का गुलाबी (कभी-कभी नीली आभा के साथ) होता है। चमकदार मीनचर्मता में शल्को का मध्य भाग गाढे रंग का होता है, किनारियां कुछ उभरी होती है और हल्के रग की होती है, क्योंकि वे विलगित होने की दशा मे होती है। इससे इसे लोम-शैवाक से विभेदित किया जा सकता है, जिसमे हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो पर बाजरे जैसी रुक्ष पिटिकाए पायी जाती है; इनका रंग सामान्य चर्म की तरह या हल्का लाल होता हे। इन पिटिकाओ का शीर्ष शृगी शल्क से बना होता है, जो मशिकाओं के फूले मुहानो मे कसकर फसे होते है। कांटल शैवाक लोमकूपो के मुहानो मे नन्हे शृंगिक उभारों द्वारा लछित होता है; उभार कुछेक मिलीमीटर ऊंचे होते हैं, उभार के भीतर अक्सर टूटा हुआ और स्प्रिंग की तरह ऐंठा हुआ लोम मिलता है।

जंतिकीय कारणों से उत्पन्न सामान्य मीनचर्मता को अर्जित मीनचर्मता से विभेदित करना चाहिए। यह विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रोग शुरू होने के समय निदान का विशेष लक्षण हमेशा नहीं होता। विरासती मीनचर्मता प्रथम बार कभी-कभी वयस्क उम्र मे व्यक्त होती है, जबकि अर्जित मीनचर्मता बच्चे को भी हो सकती है (कभी-कभी इसके साथ अंकुरार्बिक उत्वर्ध भी होता है, जिसे लसकणार्वक्लेश या लसक्रव्यार्ब कहते हैं)। अर्जित मीनचर्मता कुष्ठ और विटामिन ए की प्राथमिक एव द्वितीय कमी से युक्त पोषणात्मक गडबड़ियो के साथ भी हो सकती है।

चिकित्सा की कारगरता बहुत हद तक मीनचर्मता के प्रकार पर निर्भर करती है। इसके लिये रोग के तल्पिक लक्षण स्पष्ट होने चाहिए। लंबे समय तक विटामिन ए का प्रयोग सुसकेतित है--20-30 (बच्चों के लिये 10-15) बूद सांद्रित विटामिन ए भोजन से पहले या भोजन के समय भूरी रोटी (राई रोटी के टुकडे पर दिन में तीन बार करीब चार से छ सप्ताह तक दिया जाता है बाद में

चिकित्सा कई बार दोहरायी जाती है। अतर्पेशीय सुई के लिये विशेष रूप से निमित विटामिन ए से अधिक लाभ होता है। तेल में इसका घोल 0 5 मिलीलीटर (50000U) की मात्रा म सुई द्वारा एक दिन बीच देकर आधान कराया जाता है (प्रथम दो से चार सुइया) और इसके बाद खुराक 1 0 मिलीलीटर तक बढायी जाती है, पूर्ण चिकित्सा 15 से 20 सुइयो द्वारा होती है। बेहतर आत्मसातन के लिय विटामिन A के साथ विटामिन इ भी देना वाछनीय है—दिन में एक बार एक मध्यम चम्मच मुखमार्ग से, या अतर्पेशी सुई से (एरीविट, 1 0 मिलीलीटर की सुई नित्य या एक दिन बीच देकर, कुल 20 बार)। एविट की भी सलाह दी जाती है, यह तैल घोल है जिसके 1 0 मिलीलीटर मे करीब 100000U (35 मिलीग्राम) विटामिन A और 100 मिलीग्राम विटामिन ई होता है। अतर्पेशीय सुई नित्य या एक दिन बीच देकर दी जाती है (कुल 20 से 30 सुइयां, एविट की सुइयां कुछ दर्दनाक होती है) या इस प्रसाधन का एक कैप्सूल दिन मे दो या तीन बार दिया जाता है।

लोहे, फीटिन, कैल्सियम आदि के प्रसाधन मीनचर्मता के रोगियो को अक्सर बलवर्धक चिकित्सा के रूप मे निर्दिष्ट किये जाते है। विटामिन बी-सकुल और गामा ग्लोबूलिन की सुइयां दी जाती है, रक्तचिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। तीव्र केसों की चिकित्सा स्टेरोइड हार्मोनो से की जाती है, चर्मपूयता होने पर साथ मे प्रतिजीवक भी दिये जाते है। थिरोइडिन की नन्हीं खुराके (बच्चों की—0.01-0.02 ग्राम दिन में एक या दो बार और बडों की—0.03-0 05 ग्राम दिन मे एक या दो बार) 15 से 20 दिनों तक निर्दिष्ट की जाती है—ढालवत ग्रथि की अवक्रिया-अवस्था मे जिससे द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया मंद होने लगती है।

निम्न युक्ति से भी लाभ होता है—38-39°C तक गर्म पानी से स्नान के बाद चर्म को मुलायम करने वाला कोई मलहम या क्रीम लगाना, जिसमे 1 प्रतिशत सेलीसीलिक अम्ल मिलाते है या 0 25 प्रतिशत पोलीविटामिन-लवण से युक्त कोई मलहम या क्रीम लगाना (ताकि शल्क अच्छी तरह अलग हो जाया करे)। सल्फरकृत हाइड्रोजन के पानी या समुद्र-जल में स्नान, खनिज-स्रोतो का पंक लेपना आदि भी सुसकेतित है।

भविष्यवाणी—सामान्य मीनचर्मता के हल्के रूपो मे युक्तिसगत चिकित्सा से काफी अच्छी सफलता मिल सकती है। लंबे समय तक विटामिन ए से चिकित्सा, जल-चिकित्सा, तेलो का लेप (विटामिन से युक्त क्रीम, वनस्पति तेल, आसवित जल के साथ समान मात्रा में लानोलिन मिलाकर, स्पेर्मासेटी क्रीम, लाई, कभी-कभी 0 25-0.5 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड से युक्त क्रीमो का उपयोग) रोग को उग्र होने से रोकता है। तीव्र प्रवाह मे भविष्यवाणी कम अनुकूल होती है।

जन्मजात मीनचर्मता स्वकायिक अवगामी प्रकार से विरासत मे मिलती है। रोग के लक्षण जन्म से ही मिलने लगते हैं। यद्यपि इसके विलंबित रूप भी है (विलंबित जन्मजात मीनचर्मता), जिसमे रोग के लक्षण जन्म के कुछ सप्ताह या महीने बाद उत्पन्न होते है। यह रोग सामान्य मीनचर्मता से अधिक उग्र होता है। त्वचा कछुए की पीठ जैसे मोटे-मोटे शल्को से ढक जाती है, जिनके बीच गहरे खाचे होते है; लेकिन मीनचर्मतावत चर्मारुणता की तुलना मे त्वचा पर ललामी नही होती। उग्रतम रूप (गभीर जन्मजात मीनचर्मता) होने पर द्वितीयक पैठन और पोषण व श्वसन की गडबड़ियो से कुछ दिनो मे मृत्यु भी हो सकती है।

ऊतगदलोचन—सामान्य मीनचर्मता की तुलना मे कही अधिक अतिशृंगनता प्रेक्षित होती है। कणमय परत बची रहती है, पर कुपोपित हो जाती है।

चिकित्सा सामान्य मीनचर्मता जैसी ही है।

जन्मजात मीनचर्मतावत चर्मारुणता—इस रोग के दो रूपो मे भेद किया जाता है—बुल्लाहीन (सूखा) रूप जो स्वावगामी प्रकार से विरासतित होता है, और बुल्लेदार रूप जो स्वकायिक प्रबल प्रकार से विरासतित होता है। अनेक वैज्ञानिक अब बुल्लाहीन रूप को पटलीय मीनचर्मता और बुल्लेदार रूप को अधिचर्म-विलायक मीनचर्मता के नाम से पुकारने लगे है, क्योकि चर्मारुणता के इस रूप की खासियत है—अतिशृंगनता तथा कंटलय का मेल और अधिचार्म मालपीगी परत की कोशिकाओ का गदोचीन्हक कणीय अवजनन शुरू हो जाना (निकोल्स्की के शब्दो मे—कंटशृंगविलयन)।

रोग का बुल्लाहीन रूप पूरे चर्म की विसरित रक्तस्फीति द्वारा लक्षित होता है, चर्म शुष्क, तना हुआ और प्रचुर शल्को से आच्छादित होता है। हथेलियो व तलवों पर, कांख, कोहनी, घुटनो और जघामूल के चर्म पुटकों मे शृगी शल्क बहुत बडी मात्रा में होते है। शल्क बड़े, मोटे और बहुभुजाकार होते हैं, उनका रग भूरा होता है और वे अलग-अलग परतो में जमा होते है। हथेली और तलवो पर प्रक्रिया शृगी-चर्मता से मिलती-जुलती होती है। चर्म-पुटको के क्षेत्र मे कीलक जैसे उत्वर्ध मिल सकते हैं। कुछ केसों में सार्वदैहिक ललामी और शल्कन बिल्कुल कुटाली हो जाते हैं और बुढापे तक बने रहते है। अनेक उदाहरणो मे ललामी काफी घट जाती है या बिल्कुल गायब हो जाती है और अतिशृगनता तीव्र हो जाती है, विशेषकर चर्मपुटको पर। पलको, नाक, होठो, कर्ण-पल्लव पर चर्म के कठोर होने के साथ-साथ अपरूपन भी प्रेक्षित हो सकता है (जैसे पलको का पलटना)।

जन्मजात मीनचर्मतावत चर्मारुणता के बुल्लेदार रूप मे स्पष्ट शोथी परिवर्तन (विशेषकर चर्मपुटको के क्षेत्र मे) प्रेक्षित होते है। चर्म शोफित, तनावपूर्ण और मोटा हो जाता है इस पर बुल्ले और दद्रुक रिसाव जन्म से ही शुरू हो जाते है

अतिशृगनता एक साल पूरा कर लेने पर या अक्सर तीन-चार साल के बीच विकसित होती है। निकोल्स्की का लक्षण धनात्मक होता है, अधिचर्म की ऊपरी परते सरलतापूर्वक अलग हो जाती है। चेहरे की त्वचा अतिरक्तिल, तनावपूर्ण, चमकदार आर शल्को से प्रचुर होती है। नख मोटे और विकृत हो जाते है, अवनख अतिशृगनता विकसित हो सकती है। वाल बचे रहते है। उम्र के साथ-साथ रोग का प्रवाह सुधरने की प्रवृत्ति नजर आती है। 3 या 4 वर्ष बाद वस्तिकाएं विरले ही उत्पन्न होती हैं। तलवों और हथेलियो के चर्म पर हल्की अतिशृगनता होनी है।

ऊतलोचनी चित्र कणमय परत के अतिपोषण और सुचर्म में कटक्लेश और शोथी अतर्स्यदन द्वारा लाछित होता है, ये लक्षण इसे सामान्य मीनचर्मता से विभेदित करते है। स्पष्ट अतिशृगनता और कही-कही पराशृगनता के क्षेत्र भी पाये जाते हैं। बुल्लेदार रूप मे कटक्लेश के अतिरिक्त अधिचार्म मालपीगी परत की कोशिकाओ का कणीय अवजनन भी देखने को मिलता है।

इसका **विभेदक निदान** जव सामान्य मीनचर्मता के साथ किया जाता है, तो यह ध्यान मे रखा जाता है कि यह रोग काख व जंघामूल के चर्म-पुटकों और कोहनी व घुटनो के खातों को अपनी चपेट मे नहीं लेता। मीनचर्मतावत चर्मारुणता नवजात शिशु में जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय के साथ विभेदित की जाती है, अतिम में चर्मारुणता नही होती और वुल्ले स्वस्थ प्रतीत होने वाले उन्ही क्षेत्रों पर उत्पन्न होते है, जो चोट, दाब व घर्षण के अधीन होते है। नवजात का बहुमारिक बुदबुदिया एक छुतहा रोग है, इसमें ज्वर होता है और विभिन्न आकार के बुल्ले शोफित, ललामिक पृष्ठभूमि पर उग आते है।

चिकित्सा के सिद्धात वे ही है, जो मीनचर्मता के रोगियो के लिये है, लेकिन रोग के बुल्लेदार रूप मे विटामिन ए के विरुद्ध रोग का प्रतिरोध और कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन से चिकित्सा द्वारा सुधार देखने को मिलता है। जन्म के प्रथम दिनों मे हार्मोनी प्रसाधन की 0.001 ग्राम प्रति किलोग्राम मात्रा प्रलिखित की जाती हे (इस दैनिक खुराक को तीन-चार बार मे वाटकर देते है)।

विटामिन एच (बिओटिन) बच्चों को 3-5-10 मिलीग्राम दिन में दो या तीन बार देते हैं, रीबोफ्लाविन 5-10-15 मिलीग्राम की खुराक मे नित्य दो बार मां के दूध के साथ मिलाकर देते है, विसरित विटामिन ए (पाल्मीटेट) 5-10-15 बूद दिन मे दो बार वाछनीय है। मुखमार्ग से एविट (नित्य या एक दिन छोडकर एक या दो कैप्सूल) और 0 5-10 मिलीलीटर रीबोफ्लाविन मोनोनुक्लेओतीद (1 प्रतिशत साद्र घोल) की सुई दो-तीन साल से वडे बच्चों को एक दिन छोड़कर देना लाभकर होता है। सोडियम क्लोराइड, समुद्री लवण, चोकर या स्टार्च के साथ स्नान प्रलिखित किया जाता है जिसके बाद चर्म पर गुलाब का तेल कारोतालिन विटाडेर्म

कोर्टिकोस्टेरॉइड-मलहम (फ्लूसीनार, उल्ट्रालान, 0.5 प्रतिशत सान्द्र प्रेद्नीजोलोन-मलहम, सेलेस्टोडेर्म) या त्वचा मृदु करने वाला मलहम या क्रीम लेपा जाता है, अंतिम मे 3-5 प्रतिशत नाफ्थालान या 1-2 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल मिलाया जाता है।

लोम-शैवाक (काटल शैवाक, सरल लोम-शृंगनता) एक विरासती रोग है और मीनचर्मता का एक पूर्वपाती (अकालपाती, एबोर्टिव) रूप है। यद्यपि यह बचपन मे ही शुरू हो जाता है, इसके तल्पिक लक्षण किशोरावस्था मे ही स्पष्ट होते है। यह रोग स्त्री-पुरुषों दोनों को हो सकता है। सामान्य चर्म के रंग की नन्ही, शक्वाकार नुकीली पिटिकाओं के ग्रुप कोहनी, पीठ, नितंबो और जांघो पर उत्पन्न होती है। पिटिकाओं के शिखर केराटिनी शल्को से बने होते हैं, जो विस्फारित मशिकीय मुहानो में घुसे होते है। पिटिकाएं इन्हीं मुहानो में स्थित होती हैं। क्षति अपचोषित होकर मुश्किल से दिखने वाले दाग छोड जाती हैं। इन क्षेत्रो मे लोम-मशिकाए और वपाल ग्रथिया नष्ट हो जाती है।

चिकित्सा—विटामिन ए, ई और त्वचा मुलायम करने वाले मलहम तथा क्रीम प्रलिखित किये जाते हैं। प्राकृतिक निरोगालयो मे चिकित्सा तथा समुद्र-स्नान भी फायदेमद होते है।

टूरेन (Touraine) की बहुशृंगनता—यह बाह्य भ्रूणचर्म का परिस्थितिज आनुवशिक कुविकास है। इसमें अनेक प्रकार की शृगनताए प्रेक्षित होती हे, जैसे—तलवो तथा हथेलियो की चर्मशृगनता, मशिकीय शृंगनताए जन्मजात नखस्थूलता आदि। रोगी में निम्न लक्षण अवलोकित होते हैं—हथेलियों और घुटनो पर शृगी परत भयकर रूप से मोटी हो जाती है, नख अति पोषित होते है, बाल और अस्थिया कुपोषित होती हैं, दात अविकसित रहते हैं, सार्वदैहिक व स्थानिक अतिस्वेदन प्रेक्षित होता है, असयत मूत्रण और बौद्धिक विकास का मदन भी देखा जाता है (यहा तक कि मूढता भी)। विभिन्न तीव्रताओं के साथ विकास की ये विसंगतियां रोगी के वश में अनेक सगे-सबधियो के बीच पायी जा सकती है।

चिकित्सा—विटामिन ए और ई की बडी खुराके और त्वचा मुलायम करने वाले मलहम और क्रीम प्रलिखित किये जाते है। स्टेरोइड प्रसाधन और प्राकृतिक निरोगालय सुसंकेतित हैं।

नार्वचर्मक्लेश

नार्वचर्मक्लेश के ग्रुप मे ऐसे रोग आते हैं, जो तीव्र खुजली से शुरू होते हैं, अक्सर साथ में नर्वक्लेशिक गडबडियां भी होती हैं जो (खुजली के साथ साथ पूरे रोग

के दरम्यान बनी रहती है। इनमें कडु, खुजली, पित्ती, कुभिनर्वक्लेशिक शोफ और नार्वचर्मशोथ के विभिन्न रूप आते है।

शब्द 'नार्वचर्मशोथ' पहली बार 1891 में ब्रौक (Brocq) और जैक्वट (Jacquet) ने प्रयुक्त किया था; वे इन रोगो को चर्म नर्वक्लेश मानते थे, जिनमे विशिष्ट प्रकार की तीव्र खुजली होती है और बाद मे चर्म का शैवाकीकरण होने लगता है।

ब्रिटिश-अमरीकी आयुर-साहित्य मे विसरित नार्वचर्मशोथ को अक्सर 'आटोपिक चर्मशोथ' कहते है, जिससे रोग की जन्मजात प्रकृति स्पष्ट होती है। लेकिन 'नार्वचर्मशोथ' नामक इस पीडादायक एव कुटाली चर्म के हेतुलोचन और गदजनन से सबधित आधुनिक धारणाओ के बिल्कुल अनुरूप है।

सोवियत आयुरी साहित्य में नार्वचर्मक्लेशो का निम्न वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है—(1) चर्मखुजली, स्थानाबद्ध, सार्वदैहिक, (2) नार्वचर्मशोथ, स्थानाबद्ध, विसरित; (3) कंडु, पयोपा मे, वयस्क में, पर्विकीय, (4) पित्ती (चिरकालिक)।

चर्म-खुजली

यह अपने आप मे एक स्वतत्र रोग है, जिसमे तीव्र एव कुटाली खुजली होती है, खुजली के कारण खरोंच भी पड़ती रहती है। खुजली अनुभूत करने वाले अधिग्राहकों (रिसेप्टरो) की विशिष्टताओं के बारे मे लोग अभी भी एकमत नही है। माना जाता है कि खुजली की अनुभूति पीडा अनुभूत करने वाले नर्व-सिरों द्वारा या मज्जाहीन रेशों के सिरों द्वारा होती है। खुजलाहट की सवेदना की उत्पत्ति मे चर्म का सारा संवेदी उपकरण भाग ले सकता है। खुजली की संवेदना अंतर्प्रेरित करने वाले स्पद मज्जाहीन C-ततुओं (रेशों) के सहारे अधोवल्कुटी एव वल्कुटी केंद्रों तक पहुंचाये जाते हैं।

चर्म-खुजली का निदान करने से पहले चर्म, रक्त, यकृत, वृक्क, अधोजठर, द्रव्य-विनिमय आदि की गड़बड़ियों से सबधित उन सभी रोगो की सभावनाओ को गलत सिद्ध करना पडता है, जिनमे खुजली एक लक्षण के रूप मे उपस्थित होती है। इस रोग में कोई भी प्राथमिक रूपलोचनी क्षति नही होती। जहा तक द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियों का सवाल है, तो वे निस्तवचन एव रक्तस्राव के रूप मे हो सकती है (बिंदुक या रैखिक)। हमेशा खुजलाते रहने से कुछ रोगियो के नखो की किनारियां बिल्कुल चिकनी और चमकदार हो जाती है। खुजली अक्सर सुबह और रात को दौरो के रूप मे होती है, दिन मे अपेक्षाकृत कम होती है। इसकी उग्रता हल्की से अतितीव्र तक हो सकती है, जिससे आशिक या पूर्ण अनिद्रा हो जाती है। तेज खुजली रोगी के कार्य में भी बाधक होती है शैवाकीकरण कभी-कभी तीव्र

खुजली और खरोचों की पृष्ठभूमि में होता है ऐसे केसों में कहा जाता है कि चर्म खुजली नावक्रमशाथ में विकसित हो गयी है। विस्तार के अनुसार खुजली सार्वदैहिक अथवा स्थानाबद्ध हो सकती है। स्थानाबद्ध खुजली अक्सर जननेंद्रियो (भग, अंडकोष) तथा पृष्ठद्वार के क्षेत्र में होती है। कभी-कभी वह जांघ तथा पैर की मध्य सतहों पर तथा सिर व गर्दन पर भी विकसित हो सकती है। स्थानाबद्ध चर्म-खुजली के कारण निम्न हैं--जोंक (प्रमुखत सूत्र-कृमि), भग, योनी, ऋजु आंत (रैक्टम) व पृष्ठद्वार की श्लेष्मल झिल्लियों का शोथ, स्थानीय गडबडियों (खुजली वाले क्षेत्रों पर वर्धित स्वेदन) के साथ-साथ पनपूनर्वक्लेश; सार्वमानसिक, नर्वयौन, अंतस्त्रावी तथा अन्य गडबड़िया। सार्वदैहिक खुजली भी इन्हीं क्रियात्मक गडबडियो से होती है, लेकिन अन्य कारण भी हो सकते है, जैसे--अधे ़ एव वृद्ध लोगो में द्रव्य-विनिमय की गडबड़िया (जराकीलन खुजली), गरलक्लेश (सगर्भताकाल की खुजली) तथा अन्य जो सदा स्पष्ट नही हो पाते।

चिकित्सा--निम्न एंटीटिस्टामीनिक प्रसाधन लक्षणपरक (सिपटोमेटिक) चिकित्सा में सहायक होते है--मेबहाइड्रोलीन नापाडीजीलेट (डिओजोलिन) (0 05-0 1 ग्राम, दो या तीन बार नित्य), प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड (पीपोल्फेन), क्लोरोपीरामीन (सुप्रास्टिन), फेनेथाजीन (0.25 ग्राम नित्य तीन बार, दोपहर के बाद और शाम को अधिक लाभप्रद होता है) और डीफेनिलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड (0.03-0.05 ग्राम दिन में दो बार)। सुप्रोस्टिन या पीपोल्फेन (2.0-2 5 प्रतिशत सांद्र घोल के 1-2 मिलीलीटर) की अंतर्पेशीय सुई का अधिक खुजलीविरोधी असर होता है।

कुछ रोगियों में कैल्सियम के प्रसाधनो का अच्छा प्रभाव पडता है (कैल्सियम क्लोराइड के 10 प्रतिशत सांद्र घोल के अंतर्शिरीय आधान या कैल्सियम ग्लूकोनेट के 10 प्रतिशत सांद्र घोल की अंतर्शिरीय सुई से)। इन्हे परानुकंपी नर्वतंत्र की तानता (लाल चर्मालेख) की प्रबलता (प्रिडोमीनेंस) की स्थिति में प्रलिखित करना चाहिए। अनुकपी-तानता (श्वेत विलंबित और स्थायी चर्मालेख) मे ये प्रसाधन प्रतिसंकेतित है, क्योंकि वे पनपू नर्वतंत्र के अनुकपी भाग को उद्दीपित करते है। कुटाली और कष्टप्रद खुजली के कुछ रोगियो को कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन दिये जा सकते है यदि वे प्रतिसंकेतित न हों। कोर्टिकोस्टेरोइडो से चिकित्सा के साथ-साथ वैद्युत्-निद्रा और स्नापन के उपयोग की सलाह दी जाती है। जराकालीन खुजली के रोगी को सामान्य अश्व-पुच्छ (Equisetum नामक पौधे) का काढ़ा पीने की सलाह दी जाती है (तीन चौथाई उबलते पानी मे अश्वपुच्छ का एक बडा चम्मच डालकर बर्तन उतार लेते है, एक-डेढ घंटे बाद काढ़े को छानकर उसे एक-एक घूंट सारा दिन पीते है। चिकित्सा दो-ढाई सप्ताह चलती है)।

नर्वक्लेशिक गडबडियों वाले रोगियो को प्रशामक (ब्रोमाइड, यदि अच्छी

तरह सहन होता हो), वालेरिआन और नार्वघातक (सेडुक्सेन पर्याय डिआजेपाम, क्लोरडिआजेपोक्सीट, लिब्रिउम, त्रिओक्साजीन) दिये जाते है। सार्वदैहिक खुजली मे लाभ के लिये निम्न भौतिकीय चिकित्सा का उपयोग होता है—कृत्रिम या प्राकृतिक (तदनुरूप निरोगालय मे) सल्फरित हाइड्रोज या रोडोन स्नान, बलूत की छाल या गेंदे के काढे को जल मे मिलाकर स्नान, चोकर के पानी मे स्नान (एक बार मे एक किलोग्राम) और समुद्र-स्नान। बाह्य चिकित्सा के रूप मे (जो सार्वदैहिक खुजली मे अस्थायी लाभ पहुंचाती है) थीमोल, कार्वोलिक अम्ल, मेंथोल का 1-2 प्रतिशत साद्र अल्कोहलिक घोल, क्लेरेटोन (क्लोरोबूटोल) का 5 प्रतिशत साद्र घोल 60-70 प्रतिशत एथिल अल्कोहल में, क्लोरल हाइड्रेट और मेंथोल-युक्त शेक मिक्स्चर का प्रयोग होता है। चर्म की शुष्कता का इलाज मुखमार्ग से विटामिन A, B_2 व B_3 द्वारा और किसी मृदुकारी क्रीम (lanolini, ol Olivarum, Aq distill. aa 30 0) द्वारा होता है।

स्थानाबद्ध खुजली मे हमने खुजलीग्रस्त चर्म-क्षेत्र के गिर्द सुइयों की एक रीति प्रस्तावित की है। पहले आक्राति-क्षेत्र को एथिल क्लोराइड से धोकर उसे (क्षेत्र को) सज्ञाहीन करते हैं (या कोई सज्ञाहरण नही किया जाता), फिर 0.15-0.25 प्रतिशत सांद्र 'मेथिल नीला घोल' को बेन्केन और किसी प्रोलौंगेटर के साथ मिलाकर अंतर्पेशीय सुई देते है।

Rp Sol. Methyleni coerulei medicinalis 0.25% 100
Bencaini 4 0
MDS सुई के लिये

सुई के ठीक पहले इस घोल की 10-15 मिलीलीटर मात्रा को बुन्केन और मेथीलेन नीला का खुजलीविरोधी प्रभाव दीर्घ करने वाले द्रव्य के साथ (उसी मात्रा मे) मिला लेते हैं। डॉक्टरी जेलाटिन, पोलीवीनिल या पोलीवीनिलपिरोलीडोन (पोवीडीन) के 10 प्रतिशत सांद्र घोल के साथ, अंतिम प्रसाधन सबसे अच्छा है, लेकिन उसका आण्विक द्रव्यमान 40000 से कम नहीं होना चाहिए।

एथिल क्लोराइड से सिचन या कार्बन-डायक्साइड-बर्फ से सतही शमन का उपयोग अंडकोष (फोते) की स्थानाबद्ध खुजली मे होता है। भग की खुजली के कुछ केसों में, जब अन्य रीतियां असफल हो जाती है, जननेद्रिय के नर्वो का दोतरफा उच्छेदन या अल्कोहलीकरण किया जाता है।

स्थानाबद्ध खुजली की चिकित्सा बक्की की और डिआडिनामिक (पारप्रवेगिक) धाराओ (आयन मोडूलेटरों) से की जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइड मलहमो से अस्थायी तौर पर आराम मिलता है; ये मलहम हैं—सीनालार, लोकाकोर्टेन, 1-2 प्रतिशत [illegible] 0 5 1 0 प्रतिशत प्रेद्नीजोलोन या 3-5 प्रतिशत टार बोरिक

अम्ल में युक्त मलहम जनन-ग्रथियों के हार्मोनो (मुख्यत पुसज) से युक्त क्रीम, मेथिल टेस्टोस्टेरान या टेस्टोस्टेरोन प्रोपिओनेट (लानोलिन के आधार पर, 0 15-0 25 प्रतिशत सान्द्रता के साथ)।

नार्वचर्मशोथ

नार्वचर्मशोथ एक चिरकालिक पुनरावर्ती शोथी चर्मरोग है, जो तीव्र खुजली, पिटिकीय स्फोटों और स्पष्ट शैवाकीकरण के माध्यम से व्यक्त होता है।

परिसीमित और विसरित नार्वचर्मशोथो मे भेद किया जाता है। कई अविशिष्ट रूप भी हैं—अतिपोषित नार्वचर्मशोथ (विशाल शैवाकीकरण), अतिशृगी (मसेदार), मशिकीय नार्वचर्मशोथ, चेहरे का विसरित शैवाकीकरण आदि।

हेतुलोचन और गदजनन—नार्वचर्मशोथ मुख्यत अतर्जनित घटको के प्रभाव से होता है, जिनमें निम्न की गणना होती है—नर्वतत्र, अतस्रावी ग्रथियों और आतर अगो के कार्य में गड़बडियां, द्रव्य-विनिमय की गडबड़िया और प्रतिकूल परिवेशी घटकों के प्रभाव से होने वाली भीतरी गड़बडिया।

विभिन्न स्तरों की नर्वक्लेशिक गडबडियां भी पायी जाती हैं—वर्धित उत्तेजन या वर्धित नियत्रण, शीघ्र क्लाति, दुर्बलता, रागात्मक अस्थिरता, अनिद्रा आदि। इन सबके साथ-साथ यत्रणादायक और कुटाली खुजली होती रहती है, जो नार्वचर्मशोथ का मुख्य लक्षण है। विद्युमस्तिष्कलेख, प्लेथिस्मोग्राफी, ख्रोनाक्सीमेट्री तथा अन्य रीतियों से परीक्षण करने पर पता चलता है कि सबसे पहले केंद्रीय नर्वतत्र मे गडबडिया है, फिर पनपू नर्वतत्र मे (स्थायी श्वेत चर्मालेख; स्पष्ट लोमहर्षक (या लोमप्रेरक) प्रतिवर्त, ताप-नियमन, स्वेदन और वपास्राव मे गडबड़ी आदि)।

केंद्रीय नर्वतत्र के उच्च भागो के कार्य में गड़बड़ी की प्रकृति प्राथमिक हो सकती है और नार्वचर्मशोथ की उत्पत्ति मे हेतुलोचनी भूमिका निभा सकती है। कुछ रोगियो मे वे द्वितीयक प्रकृति की भी हो सकती हैं, जो कुटाली चर्मरोग, प्ररक्षित एवं तीव्र खुजली और अनिद्रा से होती हैं। द्वितीयक नर्वक्लेशिक गडबडिया गदजनक महत्त्व रखती हैं और नार्वचर्मशोथ का प्रवाह तीव्र कर देती है। इस तरह एक दुश्चक्र बन जाता है—नार्वचर्मशोथ का उग्र प्रवाह तथा यत्रणादायक खुजली नर्वक्लेशिक गड़बडियो को सहारा देती है और तीव्र करती है, जबकि नर्वक्लेशिक गडबडिया नार्वचर्मशोथ के प्रवाह को गभीर बना देती है।

हमारी खोजों के अनुसार नार्वशोथ के रोगियो में अधिवृक्क वल्कुट, ढालवत ग्रथि एव जननग्रथियो के कार्यो मे गड़बडी पायी गयी है। तीव्र नर्वक्लेशिक गडबडिया (वर्धित उत्तेजनता, रागात्मक अस्थिरता, खुजली से सबधित दीर्घकालीन भावनाएं अनिद्रा स्त्रेसी घटक (स्ट्रेस फैक्टर) है जिनमे अधिवृक्क

वल्कुट को अधिक तीव्रता से काम करना पडता है, अत प्ररीक्षित और तीव्र शोथी प्रक्रिया की परिस्थितियो मे उसका कार्य धीरे-धीरे मद होने लगता है और कुछ केसो मे तो बिल्कुल बद हो जाता है। अधिवृक्को का कार्य पूर्णतया बद हो जाने पर वे बर्धित आवश्यकता के अनुसार एटीशोथी कोर्टिकोस्टेरॉइड हार्मोन (कोर्टिजोन, हाइड्रोकॉर्टीजोन) अधिक मात्रा मे स्रावित नही कर पाते। दूसरी ओर, नर्वचर्मक्लेश के रोगी में एंटीशोथी हार्मोनो की आवश्यकता अधिक मात्रा मे होती है। कोर्टिकोस्टेरॉइड स्राव में यह विरोधाभासयुक्त कमी शोथी प्रतिक्रिया को तीव्र कर देती है, अर्थात् चर्म मे रोग-प्रक्रिया को तीव्र कर देती है, परोर्जिक प्रतिक्रिया को उग्र कर देती है। यह कुछ हद तक नार्वचर्मशोथ (सभवत अन्य चर्मक्लेशो के भी) रोगियो मे नर्वमानसिक चोटों के बाद या दीर्घकालीन ऋणात्मक रोगो के अंतर्गत रहने पर रोगक्रिया उग्र होने लगती है।

उपर्युक्त बातो से सिद्ध होता है कि विसरित एव प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ के रोगियों के लिये रक्षी दिनचर्या (प्रोटेक्टिव रेजिमेन) प्रलिखित करना चाहिए स्वापन मे सामान्य शातिदायक एव धनात्मक रागो का शब्दाधान करना चाहिए, स्वापन और विद्युनिद्रा के साथ धीरे-धीरे घटती मात्रा मे कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोन भी देने चाहिए।

नर्वचर्मक्लेश के रोगियो में ढालवत ग्रथि की क्रियाशीलता बढी होती है, विरलतः घटी हुई भी होती हैं; अक्सर वे जनन-ग्रंथियों की निष्क्रियता से पीडित होते हैं। इसीलिये नार्वचर्मशोथ के हेतुलोचन और गदजनन में नार्व-अतस्रावी गडबड़ियों और परोर्जिक प्रतिक्रियाओ की भूमिका प्रमुख होती है।

विभिन्न कारणो और अतस्रावी गडबडियो से नर्वतत्र का दीर्घकालीन तनाव ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिस पर 'चार्म नार्वक्लेश, अर्थात् नार्वचर्मशोथ तथा अन्य परोर्जिक प्रतिक्रियाएं विकसित होती है।

नार्वचर्मशोथ मे परोर्जिक अवस्था का महत्त्व निम्न घटको से प्रमाणित होता है—

(1) विसरित नार्वचर्मशोथ अक्सर पयोपा-दद्रु से शुरू होता है, जो नियमत पारश्लेषण की पृष्ठभूमि पर उत्पन्न होता है। पयोपा-दद्रु के अतिरिक्त वपास्रावी (और विरलत' वास्तविक) दिनाइ भी धीरे-धीरे नार्वचर्मशोथ मे परिणत हो जाते है (यदि वे प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर लेते हैं)। इस तरह की परिणतिया पयोपा-दद्रु और वयस्कों मे वपास्रावी दिनाइ के लिये लंछक हैं। अत्यल्प प्रायिक केसो मे सीरमी या दद्रु-कूपो के रूप में रिसाव वाला वस्तिकायन और तीव्र शोथी प्रकृति की ललामी तल्पिक चित्र में अधिक हावी रहती है बनिस्बत कि से युक्त पिटिकीय स्फोट और अतर्स्यंदन

(2) परोर्जिक स्फोट और खुजली स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ मे मुख्य अधिकेंद्रो से दूर स्थित चर्मक्षेत्रों पर भी पायी जा सकती है।

(3) नार्वचर्मशोथ के अनेक रोगियो का शरीर प्रतिजीवको, किन्हीं अन्य दवाओं या खाद्य सामग्रियों के प्रति अतिसवेदी होते है।

(4) नार्वचर्मशोथ के साथ-साथ रोगी मे अक्सर अन्य परोर्जिक रोग भी पाये जाते है, विशेषकर ब्रोखी दमा, कुंभीप्रेरक नासाशोथ और पित्ती।

(5) हमारे विभाग मे सपन्न किये गये परीक्षण यह दिखाते है कि नार्वचर्मशोथ से पीडित अनेक रोगियो मे बोयडेन (Boyden) के निष्क्रिय रक्तस्कदन परीक्षण, कूब्स (Coombs) और कुस (Kuns) के एटीग्लोबूलिन-परीक्षण आदि जेसी इमूनो-परोर्जिक प्रतिक्रियाएं तीव्र धनात्मक होती है। इससे इन रोगियों में एकसंयोजी प्रतिकायो (स्व-प्रतिकायो) की उपस्थिति सिद्ध होती है।

सर्वप्रथम केद्रीय नर्वतंत्र की, फिर पनपू नर्वतत्र और अतस्रावी तंत्र की गडबड़ियो की दृष्टि से नार्वचर्मशोथी की उत्पत्ति का कारण समझने के प्रयत्नों और इस रोग मे शरीर की परोर्जिक अवस्था तथा विभिन्न आतर अगो की द्रव्य-विनिमय से सबधित गड़बडियो की भूमिका स्पष्ट करने के प्रयत्नो के बीच कोई अतर्विरोध नही है, उल्टा, ये एक-दूसरे के पूरक है। नर्वतत्र की गडबडियो के साथ अक्सर अतस्रावी व्यवधानों (अधोवर्ध-अधिवृक्कीय तत्र और अपेक्षाकृत विरलत. ढालवत एव जनन-ग्रथियो की गडबडियों) के अवलोकन से इस बात की पुष्टि होती है कि नार्वचर्मशोथ के गदजनन मे नार्वअंतस्रावी गडवड़ियों की ही प्रमुख भूमिका होती है।

ऋजु आत और मल-मार्ग की श्लेष्मल झिल्लियों के चिरकालिक अतिश्यायी शोथ से पृष्ठद्वार के क्षेत्र में स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ और खुजली के गदजनन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बडी व छोटी (तथा दोनो) आंतो और जठर (या तीनो) के चिरकालिक शोथ के साथ-साथ ऋजु आत तथा मल-मार्ग (या दोनों) का भी शोथ होता है और मल-विसर्जन मे अवरोध होने लगता है। इससे शरीर मे आत के गरणकारी द्रव्यो का अपचोषण होने लगता है (शरीर का स्वगरल-क्लेश या स्वगरलता)। अतिसार या मल में श्लेष्मला के साथ कब्ज के कारण पृष्ठद्वार की श्लेष्मला और चर्म क्षोभित हो जाते हैं और इससे भी इस चर्मक्षेत्र मे नार्वचर्मशोथ के उग्र होने की परिस्थितिया बन जाती हैं। इस पृष्ठभूमि पर कवकज या खमीरज क्षतिया उत्पन्न हो सकती है। पृष्ठद्वार के गिर्द विदार, रक्तस्रावस (अधिकाशत बाह्य, विरलतः आतरिक) और जोक (मुख्यत. सूत्र-कृमि) भी इस क्षेत्र मे स्थानाबद्ध खुजली और नार्वचर्मशोथ विकसित कर सकते है।

बाह्य जननेंद्रियो के क्षेत्र में स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ के गदजनन मे मुख्य

भूमिका निम्न की होती है--नार्वयौन गडबडियों, जनन-ग्रंथियों तथा हार्मोन-स्राव से संबधित गड़बडियाँ, जननेंद्रियो के क्षेत्र मे विभिन्न शोथी प्रक्रियाओं और यौन क्षेत्र के चिरकालिक रोगों की (विशेषकर गर्भाशय के उपांगों के शोथ, गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली के शोथ और पुरुषों में पुरस्थशोथ की)।

अतीव्र शोथी प्रकृति की ललामिक पृष्ठभूमि में चर्म के शैवाकीकरण का अतर्स्यदन **विसरित नार्वचर्मशोथ** के तल्पिक चित्र पर हावी रहता है। आक्राति के अधिकेंद्र अधिकांशत चेहरे, गरदन, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहो (कोहनी और घुटनो के विपरीत तरफ गड्ढेनुमा क्षेत्रों), जननेंद्रियो के क्षेत्रों, जाघो की मध्य सतहो तथा शरीर के अन्य क्षेत्रो पर होते है। प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियो के रूप मे अक्सर अधिचार्म एव सुचार्म पिटिकाएं पायी जाती है। रग में उन्हें स्वस्थ त्वचा से अलग करना मुश्किल होता है और कही-कही पर वे सगम करके पिटिकीय अतर्स्यदन के क्षेत्र बनाती है। आक्रांति-क्षेत्र पर त्वचा अक्सर अतिवर्णकित ओर शुष्क हो जाती है, उस पर असख्य निस्त्वचन और सूक्ष्म चोकर जैसा शल्कन दिखाई पड़ता है। नैसर्गिक पुटकों मे अंतर्स्यदन की पृष्ठभूमि पर रैखिक विदार पाये जाते हैं। चर्म की आक्राति निम्न लक्षणो मे व्यक्त होती है--तीव्र खुजली और एकलरूपी अनेक केसों में किसी-न-किसी डिग्री की नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां, श्वेत चर्मालेख, स्पष्ट लोमहर्षक प्रतिवर्त; ये सब मिलकर नार्वचर्मशोथ का लछक तल्पिक चित्र बनाते हैं। नार्वचर्मशोथ के रोगियो में अवकोर्टिकता (कोर्टिकोस्टेरोइडो का अपर्याप्त स्राव) अतिवर्णकता के अतिरिक्त अक्सर निम्न लक्षणो मे व्यक्त होता है--अवतान, अवप्रवेगन, परोर्जिक प्रतिक्रियाए, जठर-रस का अल्प स्राव रक्त-अवमिष्टता, मूत्र-विसर्जन में कुछ कमी, दुबलापन (शरीर के भार में कमी), वर्धित क्लाति।

विसरित नार्वचर्मशोथ अक्सर मौसमी होता है। रोगी की दशा अक्सर गर्मियों मे सुधर जाती है और जाडो मे बिगड जाती है। कुछ केसो मे प्रक्रिया के साथ-साथ ब्रौंखी दमा, परागज ज्वर, कुभीप्रेरकीय नासाशोथ तथा अन्य परोर्जिक रोग होते है। प्रक्रिया का इपेतिगीकरण और दद्रुकरण भी संभव है (वस्तिकायन का विकास, अल्पकालीन रिसाव, तीव्र शोथी प्रकृति की ललामी)।

विसरित नार्वचर्मशोथ को यदि गदोतलोचनी दृष्टि से देखा जाये, तो वह निम्न लक्षणों से लछित होता है--परा एवं अतिशृंगनता, हल्के कटलयक्लेश, आतर एव अंतराकोशिकीय शोफ, पिटिकाओ के शोफ, गोल-कोशिकीय (लसोतकोशिकीय) अतर्स्यदन, जो अधिकांशत सुचर्म मे हल्का विस्फारित कुभियो के गिर्द पाया जाता है।

——— **नार्वचर्मशोथ** सीमित चर्म-क्षेत्र पर ही उत्पन्न होता है लेकिन
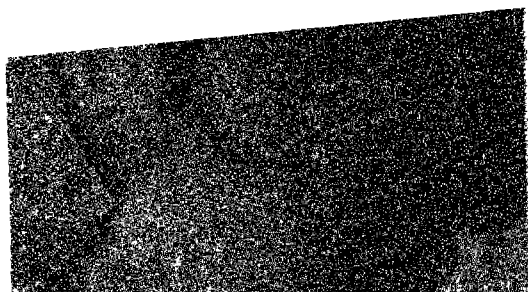
स्थानबद्ध मार्वचर्मशोथ (बिडाल का शैवाक)

ारण वह रोगी के लिये बडा यत्रणादायक होता है। खुजली शाम
त्पन्न होती है। इसके प्रिय स्थल है--गरदन की पश्च और पार्श्व
जननेंद्रिय के क्षेत्र (इन रोगियों में जाघ की मध्य सतह भी
स्त रहती है), नितंबो के बीच का पुटक, बृहत सधियों की
शुरू मे रोग-स्थल पर त्वचा अपरिवर्तित रहती है। बाद मे
ीनावट की पिटिकीय क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जो चोकर जैसे
ती है; कहीं-कहीं खुजली से खरोचे भी बन जाती है। इसके बाद
ाकांशतः शैवाकवत पिटिकाएं संगम कर जाती हैं और विभिन्न
(सतत पिटिकीय अंतर्स्यदन) बना लेती हैं, जिनका रंग फीका
लाल तक हो सकता है; उनकी परिरेखाएं गोल (वृत्ताकार) या
चर्म पर नक्काशी जैसी आकृतियां स्पष्ट होती जाती हैं, अर्थात्
ंसित होने लगता है। त्वचा कीमुख्त जैसी होती जाती है।
शोथ में प्रक्रिया जब अपनी पराकाष्ठा पर होती है, तब विशिष्ट
र के कटिबध पाये जा सकते है--केंद्रीय कटिबध (शैवाकीकरण
ध. जिसमें अलग-अलग चमकदार, अक्सर चिकनी और फीके
पिटिकाएं होती हैं, और अंत मे परिसरीय कटिबध, जिसमें
जाती है। निस्त्वचन (ताजा या रक्तस्रावी खड्डियों से आच्छादित)
ी पृष्ठभूमि पर देखी जाती है, जिसकी प्रकृति अशोथी होती है।
ाने पर गुर्पों में संगमित शैवाकवत पिटिकाओं के अतिरिक्त

प्रकिर्णित कडुक क्षतिया भी दिखाई देती है, शल्कन तीव्र हो जाता है और ललामी चमकदार हो जाती है। रोग प्रवाह ग्रहण कर लेता है, जिसकी लवाई वर्षो की अवधि मे नापी जाती है।

ऊतगदलोचन—ऊतलोचनी चित्र पराशृगनता (विरलत- अतिशृगनता), कटलय, पिटिकामय व अक्सर जालिकामय सुचार्म परतों के अतस्यंदन द्वारा लक्षित होता है।

चिकित्सा—विसरित प्रक्रिया वाले रोगियो के लिये प्रशामक चिकित्सा व मनोथेरापी के साथ-साथ प्रतिशोथी (एटीशोथी) एव अवसवेदनकारी कोर्टिकोस्टेरोइड हार्मोनो (उर्बाजोन पर्याय मेथिलप्रेद्नीजोलोन, डेक्सामेथाजोन) की अल्प खुराक धीरे-धीरे वढ़ती मात्रा मे प्रलिखित की जाती है। ये हार्मोन निम्न स्थितियो मे दिये जाते है—रोग के कुटाली प्रवाह मे, तीव्र खुजली मे, आकृति-अधिकेद्र के प्रकीणन की प्रवृत्ति में। और जव चिकित्सा को अन्य रीतियो से कोई लाभ नजर नही आता। नर्वतत्र की कार्यशीलता को सामान्य करने तथा नर्वक्लेशिक प्रतिक्रिया कम करने के लिये निम्न का उपयोग किया जाता है—विद्युनिद्रा (स्वापन के साथ), ब्रोमाइड के प्रसाधन, वालेरिआना, नर्वघाती प्रसाधन (मेप्रोवामेट, त्रिओक्साजीन, खलोरडिआजेपोक्सीड, लिब्रिउम, सेडुक्सेन), गुच्छिका- अवरोधकारी प्रसाधन (नानोफिन, खलोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड, हेक्सामेथोनियम आदि) और एटीहिस्टामीनिक प्रतिकडुक प्रसाधन (टावेजिल या टावेगिल, डिमेड्रोल, सुप्रोस्टिन, डिप्राजिन आदि)। बी-सकुल के विटामिन और विटामिन पी-पी तथा ए प्रलिखित किये जाते हैं (वच्चो के लिये विकीर्ण रूप मे और बडों के लिये विटामिन ए का तेल मे सांद्रित घोल के रूप में; विटामिन ए और इ अतर्पेशीय सुई के रूप में अलग-अलग या एविट के रूप में दिये जाते है)। अधेड रोगियो को मेथिलटेस्टोस्टेरोन प्रलिखित किया जाता हे। सल्फरित हाइड्रोजन तथा रेडॉन के घोल मे स्नान, पराबैंगनी विकिरण और सौर चिकित्सा (फोटारसायनथेरापी) भौतिकीय चिकित्सा के साधन है। गेदे, बलूत की छाल या गुलदाउदी (कैमोमीले) के काढे के साथ स्नान की भी सलाह दी जा सकती है। स्नान के वाद शुष्क चर्म-क्षेत्रों पर कोई पोषक क्रीम (lanoline, ol olivarum, Aq destill aa 30 0) या जैतून (ओलिव) का तेल लगाया जाता है। नाफ्थालान, टार, सल्फर, इख्थ्यामोल, ASD घोल आदि के साथ केराटो-प्लास्टिक मलहम लगाये जाते हैं।

कोर्टिकोस्टेरोइडों से युक्त मलहम (सीनालार, लोकाकोर्टेन, फ्लूसीनार, फ्तोरोकोर्ट आदि) ग्रस्त क्षेत्र में लगाये जाते है। अनीलीन रजक, कास्तेलानी का पेंट और ओक्सीकोर्ट, जेओकोर्टोन (गेओकोर्टोन), लोकाकोर्टेन N, लोकाकोर्टेन-विओफोर्म मलहम द्वितीयक पैठन मे प्रयुक्त होते हैं विसरित एव प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ के

रोगियों की तरह स्थानाबद्ध रोग-प्रक्रिया वाले रोगियो को भी प्रशामक और एंटीहिस्टामीनिक प्रसाधन, मसालों, स्मोक्ड (धूमायित) खाद्य पदार्थ और नमक के विहीन आहार दिया जाता है। अल्कोहलिक पेय और खुजली व चर्मशोथ तीव्र करने वाले आहार से पूर्ण परहेज किया जाता है। स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ मे आक्रांति-अधिकेंद्र के गिर्द 0 15 प्रतिशत सांद्र मेथीलीन नीला घोल की सुइ दी जाती है (उसके साथ नेवकेन या प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का 2 प्रतिशत सांद्र घोल और जेलाटिन या पोलीवीनिलपीरोलीडोन का प्रोलोंगेटर मिलाकर)। अधिकेंद्र के स्पष्ट शैवाकीकरण और अतर्स्यदन मे अधिकेंद्र के गिर्द हाइड्रोकोर्टिजोन इमल्शन की सुइया वाछनीय है। बक्की की किरणों द्वारा चिकित्सा से भी लाभ होता है उसे बनाये रखने के लिये और पुनरावर्तन का निरोध करने के लिये गर्मियों मे किसी दक्षिणी इलाके में व्यतीत करने की सलाह दी जाती है। साथ-साथ युक्तिसगत स्वास्थ्यप्रद दिनचर्या, चिरकालिक पैठन-अधिकेंद्रो की चिकित्सा और आहारीय, औषधीय तथा घरेलू परोर्जको (जानवरों के रोओं, दैनदिन जीवन में प्रयुक्त रसायनों, घरेलू धूल आदि) से बचाव भी आवश्यक होता है।

सामान्य मुंहासा

यह चर्म का एक सामान्य कौस्मेटिक रोग है। यह यौन परिपक्वता के आरम्भ मे शुरू होता है, क्योंकि इस समय गोनाडोट्रोपिक हार्मोनो के प्रभाव से वपाल ग्रथियो की कार्यशीलता बढ जाती है। ऐंड्रोजन हार्मोन स्त्री-पुरुष दोनो मे मुहासों के स्फोट को तीव्र कर देते हैं। एस्ट्रोजनो की उच्च खुराके वपाल ग्रथियों के स्रावी कार्य को दमित कर देती हैं और क्षतियों को प्रगामी बना देती है। मुहासो का निकलना मासिक धर्म शुरू होने से पूर्व तीव्र हो जाता है। सगर्भता का प्रक्रिया पर लाभदायक प्रभाव पडता है, क्योंकि हार्मोनिक संतुलन सामान्य रहता है।

वपास्राव, साथ-साथ अनुकपी पारमस्तिष्क-केंद्र की तदनुरूप गडबडिया और वपा की संरचना में परिवर्तन—यह सब रोग के विकास मे संप्रेरक घटक है। हेतुलोचनी घटक स्ताफिलोकोको की गदजनक जातियां और मुहासे के कोरीनेबाक्तेरिउम एक्ने है। अतिपुंसजता के अतिरिक्त रोग के प्रति प्रवणकारी घटक निम्न हैं—जठरात्र-मार्ग की गडबडिया, अविटामिनता, रक्ताल्पता, आनुवशिक प्रभाव और आहार एवं द्रव्य-विनिमय की प्रकृति। इसके प्रिय स्थल चेहरा और वक्ष एव पीठ के ऊपरी भाग है।

वपा के वर्धित स्राव और मशिकीय अतिशृगनता के कारण वपाल ग्रथिया के मार्ग केराटोटिक शृगी प्लगों से अवरुद्ध हो जाते है इन प्लगों का कीलें कहते

चर्मरोग चिकित्सा

है)। वपा के जमाव और पूयकारी पैठन के कारण शोथी पिटकीय एव पीपिकीय मुहासे जैसी क्षतिया उत्पन्न होती है। अधिकद्र संगभित होते है और अधिक गहरी परतो तक बेधकर पहुच जाते है, वे कटोरित एव अतर्स्यंदित हो सकते है। विद्रधिया बन सकती हैं। ऐसे केसो मे निर्वर्णकित क्षताक रह जाते हैं, जिससे चेहरे पर तरह-तरह के दाग और गड्ढे नजर आने लगते है। किस प्रकार की क्षतिया प्रबल है, इसके आधार पर निम्न प्रकार के मुहासो में भेद किया जाता है—विमृतिक (चेचकसदृश) मुंहासे, कुपोषज मुहासे और संकुली मुहासे (संगमरत वर्तुलाकार कीलें)।

ऊतलोचनी आधार परिमर्शिकीय अतर्स्यंद और वपाल ग्रंथियों का फुलाव, रोध और कुपोषण है।

विभेदक निदान पीपिकीय सीफिलिदो, आयोडाइडो व ब्रोमाइडों से उत्पन्न स्फोटों के साथ किया जाता है।

चिकित्सा—उग्रता-काल मे रोगी को प्रतिजीवक दिये जाते है, मुख्यत तेत्रासिक्लीन, ओलेतेत्रिन (250000U प्रतिदिन तीन या चार बार, 20 दिनो तक) और एरीथ्रोमीसिन; विटामिन E, A, B_2, B_6, B_{12}, B_{16}, फोलिक व नीकोटीनिक अम्ल और मुखमार्ग से सल्फर के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं। द्वितीयक पूयकारी पैठन द्वारा उत्पन्न क्लिष्टता की स्थिति मे स्ताफिलोकोकी टोक्सं[illegible] एंटी-स्ताफिलोकोकी गामा ग्लोबूलिन और स्वरक्त-चिकित्सा की सलाह दी [illegible] है। एसीडीन-पेप्सिन (एक भाग पेप्सिन और चार भाग एसीडीन की गोलिया [illegible] बेटाईन हाइड्रोक्लोराइड) पानक्रेआटिक प्रसाधन और विरेचक (दस्तवार साध[illegible] पाचन को ठीक करने के लिये दिये जाते है। जननहार्मोन (एस्ट्रोजन) रोगी की उम्र और उसके अतस्रावी तत्र की अवस्था को देखते हुए प्रलिखित किये जाते है।

बाह्यत: त्वचा को निस्स्नेहित और निष्पैठित करने वाले प्रसाधन प्रयुक्त होते है। इसके लिये निम्न के अल्कोहलिक घोल प्रयुक्त होते हैं—रेसोर्सीनोल, सैलीसीलिक अम्ल, कैफर पारद क्लोराइड (0.5 प्रतिशत) खीमोप्सिन (ट्रिप्सिन के साथ खीमोट्रिप्सिन) और खीमोट्रिप्सिन। वपास्राव-शामक प्रसाधन भी दिये जाते है। सल्फर, रेसोर्सीनोल और इख्थ्यामोल के जलीय निलबन (सस्पेंसन), इनकी सांद्रता धीरे-धीरे बढायी जाती है।

कुटाली केसो की चिकित्सा मे बाक्तेरिक पीरोजन (पीरोजेनल, प्रोडीजिओजान) के साथ प्रतिजीवक का प्रयोग किया जाता है, कीलो और पीटको को दूर किया जाता है। मुहासे के दूर होने के बाद सल्फर-टार से युक्त पाउडर और कैफर या ख्लोराफेनीकोल स्पीरिट या कुम्मेरफील्ड (Kummerfield) का घोल प्रयुक्त होता है

Rp (amphorae tritae
Gummi arabici āā 3 0
Sulpher pp. 10 0
Aq Calcis ad 100 0
MDS अधिकंद्र पर मलने के लिए बाह्य प्रसाधन

पराबैगनी किरणे और फोटोरसायन-चिकित्सा (PUVA-थेरापी) सुसकेतित है।

लाल मुंहासा

लाल मुहासा मुख्यतः तैल वपास्राव से पीडित रोगियों मे शरीर-गठनात्मक कुभिक नर्वक्लेश की एक अभिव्यक्ति है। सप्रेरक घटक है—जठरात्र की गडबडिया (जठरशोथ, अक्सर अवाम्लीय या अनम्लीय और आत्र शोथ), पनपू नर्वक्लेश, रजोनिवृति और जाडो के समय खुले मे या तप्त उत्पादन-प्रक्रिया वाले कर्मालय मे श्रम। डेमोडेक्स फोलीकुलोरूम (वपाल ग्रथियों की एक कुणपतृण चिंचडी) कुछ रोगियों में निर्वाहक (सस्टेनिग) घटक का काम करती है। रोग अधिकाशत. औरतो को 40 से 50 वर्ष की उम्र मे होता है।

रोग नाक, गालों और ललाट के मध्य भागो पर लाली से शुरू होता है, जो गर्म व क्षोभक भोजन, अल्कोहल तथा रागात्मक घटकों से तीव्र हो जाती है। इसके बाद दूरकुंभीविस्फारण और फिर परिमशिकीय पिटको की उत्पत्ति होती है। लाल मुहासा (या रोजासिआ) शुद्ध रूप में भी हो सकता है, लेकिन अक्सर सामान्य मुहासे और द्वितीय पैठन से क्लिष्ट हो जाता है।

रूपलोचनी अभिव्यक्तियो के अनुसार इस रोग के निम्न रूप (चरण) होते है—(1) ललामक्लेशिक रोजासिया, स्थायी रक्तस्फीति, इसकी पृष्ठभूमि मे सतही दूरकुंभीविस्फारण के जाल का विकास, चर्म का मोटा और चिकटा (तेलचट) होना, अतिपोषित वपाल ग्रथियो के मुहानो का विस्फारित होना, (2) पिटकीय रोजासिआ, सतही मुंहासा-सदृश मशिकीय पिटक; कीलों (कोमेडोनों) की अनुपस्थिति; (3) पीपिकीय रोजासिआ, पीपिकाए, जिनके मध्य में पूयमृति होती है, (4) ततुकुभी-विस्फारक रोजासिआ, पर्याय अतिपोषित रोजासिआ (रीनोफीमा-लुंडित नाक), लुंडित (लोबुलेटेड) बैंगनी, मुलायम लस्त गुल्म; पीपिका, दूरकुभीविस्फारण और क्षताक।

चिकित्सा के रूप मे निमित्त कारणों को दूर किया जाता है—अतर्स्रावी गडबडियो की चिकित्सा, जनन-उपकरणो की गडबड़ियो और रोगों को दूर करना पेट व यकृत के रोगों का इलाज मलविसर्जन का आहार में क्षोभक

पदार्थ नही होने चाहिए, अल्कोहल, गर्म पेय और मसालों से परहेज करना चाहिए। एसीडीन-पेप्सिन और बी-मकुल के विटामिन मुखमार्ग के दिये जाते है।

द्वितीय पैटर्न की स्थिति मे मुखमार्ग से तेत्रासिक्लीन दो या तीन सप्ताह तक या एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट 10 दिनो तक नित्य तीन बार प्रलिखित किया जाता है।

बाह्य वपास्राव-शामक चिकित्सा हिओक्सीजोन या लोरिडेन (' मलहम के साथ 30 प्रतिशत सल्फर से युक्त मलहम द्वारा होती है (अतिम मे पहले सल्फरयुक्त मलहम एक-तिहाई मात्रा में रखते है, फिर दोनो मलहम आधा-आधा मिलाकर प्रयोग मे लाते है), इख्थ्यामोल-रेसोर्सीनोल पेस्ट भी लाभकर होता है। बारी-बारी से गर्म और ठडे पानी से धोना भी कुभिक तानता बढाने के लिये अच्छा होता है। धूप और फ्लुओरीडेटेड कोर्टिकोस्टेरोइड से परहेज करना चाहिए।

रीनोफीमा की चिकित्सा कर्रार्जिक रीति से स्काल्पेल या छूरी द्वारा या ताप-दागन (थेर्मोकाउटराइजेशन) द्वारा अतिपोषित प्रवर्ध को दूर करने से होती है। प्रारभिक चरण में कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ द्वारा शीत-चिकित्सा या केश-विद्युत (हेयर-एलेक्ट्रोड) द्वारा आयुरी पारतापन भी लाभकारी उपाय है।

Rp Sulphur pp
Glycerini
Aq Amygdalarum amar
Aq Calcis ad 10 0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

Rp · Resorcini
Sulphur pp ãã 5 0
Calcii carbonici
Zinci oxydati
Ol. Lini
Aq Calcis ãã ad 100 0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

अपशल्की चर्मारुणता (लाइनर का रोग)

रोग का हेतुलोचन अभी तक स्पष्ट नही हो पाया है। रोग के कारणा से संबंधित कई विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, लाइनर यह मानते थे कि रोग स्व-आगरण से होता है, क्योकि उनके अनुभव मे इस रोग की चर्म क्षतिया के साथ-साथ जठरांत्र की गडबडिया अवश्य मिलती थी अन्य वैज्ञानिको का मानना

है कि रोग द्रव्य-विनिमय के उत्पादो के प्रति स्वमग्रदीकरण, आविटामिनता (विआटिन और विटामिन ए की कमी) और सगर्भता के अपसामान्य प्रवाह (गर्भता) से होता है। रोग तीव्र होता है और घातक भी हो सकता है।

तल्पिक चित्र—रोग अवपुष्ट बच्चों मे उनके जीवन के प्रथम माह मे विकसित होता है। यह सार्वदेहिक दद्रुक स्फोटो के रूप मे अभिव्यक्त होता है जो जननेंद्रियों, नितबों या शिरोवल्क से शुरू होते है। स्वस्थ दिखती त्वचा पर थोड़ा-सा उभरे हुए विसरित ललामक्लेशिक-शल्की शोफित अधिकेंद्र इस रोग की विशिष्ट क्षतियां है। वृहत चर्मपुटको के क्षेत्र मे रिसाव, मसृणन तथा वृहत पटलित शल्कन और साथ ही शिरोवल्क पर वपास्रावी प्रकार के चिकटे शल्क पाये जा सकते है। रोग अनपच, तीव्र आत्रशोथ, सडांध लिये हुए अतिसार, दुर्बलता, अवपोषण (दूध में विटामिन एच की कमी), अवक्रोमिक रक्ताल्पता, रिसालु पारश्लेषण और कभी-कभी क्लोमशोथ की पृष्ठभूमि मे उत्पन्न होता है। लसपर्वो, यकृत और प्लीहा का वर्धन, श्वेताल्पता और अवग्लोबूलिन-रक्तता अक्सर पायी जाती है।

लाइनर के रोग मे शरीर का तापक्रम या तो सामान्य रहता है, या अवज्वरीय होता है। सहवर्ती क्लिष्टताओ के कारण तापक्रम 38-39°C तक पहुच सकता है। रक्त में एओजीनोफीलो की कमी या पूर्ण अनुपस्थिति एक लछक चिह्न है (तुलना करे बच्चो में रिसालु पारश्लेषण और वपास्रावी दिनाइ से, जिनमें एओजीनोफिल अवश्य होते है)।

विभेदक निदान वपास्रावी दिनाइ, सीफिलिसी बुदबुदिया, रिट्टर के रोग, कादीदक्लेश और नवजात के तीव्र बहुमारिक बुदबुदिया के साथ किया जाता है, जो सीफिलिसी बुदबुदिया की तरह ही बाक्तेरीस्कोपी के धनात्मक (सकारात्मक, पुष्टिकारी) परिणामो और बुल्लानुमा क्षतियो की उपस्थिति से विभेदित होता है। रिट्टर का रोग धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण और मुंह के गिर्द शुरू होने वाली क्षतियो से लछित होता है।

वपास्रावी दिनाइ से पीडित बच्चो मे सामान्य अवस्था नियमतः अच्छी रहती है। कोई आत्रशोथ, अतिसार या अवक्रोमिक रक्ताल्पता तथा एओजीनोफीलिया नही होती और ऐसी स्थिति लाइनर रोग के लिये लछक नही है।

चिकित्सा—विटामिन A, B_2, B_6, B_{12}, C, H दिये जाते हैं। विटामिन एच (बिओटिन) 0 003-0 005 ग्राम की खुराकों मे नित्य तीन बार दिया जाता है। रक्त-चिकित्सा और गामा ग्लोबूलिन की सुइया वाछनीय होती हैं। प्रतिजीवको (सेपोरिन, ओलेटेट्रिन आदि) से और तीव्र केसों मे कोर्टिकोस्टेरोइडो तथा अनाबोलिक हार्मोनो से लाभकारी प्रभाव मिलता है विवेकसगत आहार और ठीक समय पर

कृत्रिम दुग्ध-पान का प्रबंध करना चाहिए। बच्चे की सफाई संबंधी देखभाल मे पोटाशियम परमेंगनेट या बलूत की छाल (अथवा गेंदे) के काढे के सुसुम (37 5-38°C) घोल मे आपादमस्तक स्नान बहुत महत्त्वपूर्ण है। त्वचा मे कार्टिकोस्टेरॉइड मलहम और विटामिन ए व 5 प्रतिशत नाफ्थालान (या 3-5 प्रतिशत सोडियम बोरेट) से युक्त क्रीम लगाया जाता है।

भविष्यवाणी—यथासमय युक्तिसंगत चिकित्सा, पर्याप्त भोजनचर्या और सफाई संबंधी देखभाल से बच्चा कुछ सप्ताह मे ठीक हो जाता है।

आंत्रगादिक आक्रोचर्मशोथ (डानबोल्ट-क्लोस का रोग)—यह एक जीनीचर्मक्लेश है, जो खमीरी त्रिप्तोफान के व्यवधानित विनिमय और शरीर मे जस्ते की कमी से संबंधित है। यह अवगामी स्वकायिक प्रकार (रिसेसिव औटोसोमल टाइप) द्वारा विरासतित होता है। यह शायद गर्भावस्था मे उत्पन्न गरलक्लेश के कारण बाह्य भ्रूणचर्म का जन्मजात कुविकास माना जा सकता है। कादीदक्लेश ओर पूयकोकी पैठन रोग के नल्पिक प्रवाह को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। रोग जीवन के प्रथम वर्ष मे, अक्सर जन्मोपरात प्रथम सप्ताहों मे विकसित होता है, वयस्कों में बहुत विरल होता है।

बस्तिकीय-बुल्लेदार या ललामिक रिसाग क्षतिया नैसर्गिक द्वारों (मुख, पृष्ठद्वार) के गिर्द, चर्मपुटकों में, मूलाधार मे या हाथ-पैर के परिसरीय भागो (उंगलियों) पर उत्पन्न होती है (जिन पर यांत्रिक चोट लगी होती है)। नखो में कुपोषणजनित परिवर्तन प्रेक्षित होते है। पटलित खर्जूरूपी शल्कन अधिकेंद्रों पर बाद मे विकसित होता है। मुख-श्लेष्मला अक्सर ग्रस्त हो जाती है। हाथ-पैर के नख विकृत हो जाते है। शिरोवल्क, पलकों तथा भौहो पर खल्वाटता (निर्लोमता) या बालो की विरलता शुरू हो जाती है। स्फोटों के साथ-साथ जठरांत्र की गड़बड़िया, पलकशोथ, प्रकाशभीति और दुर्बलता प्रेक्षित होती है।

औटोप्सी से आंत्र-व्रण और छोटी-बड़ी दोनों आंतो का शोथ प्रेक्षित होता है।

आंत्रगादिक आक्रोचर्मशोथ का निदान करने मे निम्न रोगो की संभावना दूर करनी पड़ती है—बुल्लेदार अधिचर्मलय, प्राथामिक चार्म कादीदक्लेश (खमीरी कवकों के परीक्षण से), ड्यूरिंग का रोग और पीपिकीय खर्जूक्लेश।

चिकित्सा—ओक्सीक्वीनोलीन के उत्पाद प्रलिखित किये जाते है, ये हे—एंटेरोसेप्टोल (0 125-0 25 ग्राम नित्य दो बार, 5 दिन के अंतराल के साथ 10-10 दिन के चक्रो में, कुल पांच चक्र) और निस्टाटिन (500000U नित्य तीन या चार बार 14 से 18 दिनो तक)। विटामिन B_6, B_{15}, PP और एवीटुम प्रलिखित किये जाते हैं

हाल में अच्छा प्रभाव जिंक के प्रसाधनों से प्राप्त किया जा रहा है जिका

राटी या जिकी ओक्सीडाटी (जो बेहतर है) की 0 05 ग्राम
सूलो में मिलते है, मुखमार्ग से दिन में दो या तीन बार ग्रहण
20 दिन के चक्र दोहराये जाते है। एटेरोसेप्टोल की जगह
जा सकता है—तीन साल से कम के बच्चे को दिन मे 0 1g
ार मे बाटकर दी जाती है। तीन साल से अधिक के बच्
ग्राम तीन बार खाने के बाद दिया जाता है। चिकित्सा पाच दि
-10 दिन के चक्रो मे की जाती है।
बाह्य प्रयोग की दवाए है—अनीलीन रजकों के जलीय घोल,
र औथोसिआनिन, कोलीमीसिन (नेओमीसिन) हेलिओमीसिन
मीसिन, हिओक्सीजोन, लोरिडेन C और लोकाकोर्टेन N या

बालों के रोग

स निरूपित खोंतेदार खल्वाटता

खोतेदार खल्वाटता (निर्लोमता) मे शिरोवल्क, दाढ़ी, भौंहो,
घन के परिमीमित गोल क्षेत्रों से बाल झड जाते है। अधिक

प्रसार करते हुए अक्सर सगमित हो जाते है और खल्वाटता के विस्तृत क्षेत्र बना लेते है, जिनकी किनारिया बहुचक्रीय (पोलीसाइक्लिक) होती है।

खल्वाटता के ताजे अधिकेंद्र ललामिक और शोफित होते है। बाद मे आक्रात चर्म चिकना हो जाता है और हाथी-दात के रग का हो जाता है। अक्सर अधिकेंद्र के लोमो (बालो) के कुछेक मिलीमीटर लबे ठूठ रह जाते है, इनकी जडे हल्का शोफित होती है और इनके शिखर पतले तथा प्रश्नवाचक चिह्न की तरह हो जाते है। इन बालों को सरलता से दूर किया जा सकता है। सिर पर सूक्ष्म अधिकेंद्रित खल्वाट क्षेत्रो वाली निर्लोमता कभी-कभी बच्चो मे पायी जाती है। इसे सूक्ष्मचित्तिक निर्लोमता कहते है।

प्रवाह—रोग कई महीनो और कभी-कभी वर्षो तक चल सकता है, पुनरावर्तित होता रहता है और कुटाली होता है। ठीक होने पर पहले कोमल रोए निकलते हे, बाद मे इनकी जगह पर मोटे (सामान्य) और वर्णांकित बाल उग आते है।

हेतुलोचन अज्ञात है।

गदजनक महत्त्व निम्न घटकों को दिया जाता है—शरीर की विभिन्न गडबडिया (गरलताजनित, पेठनजनित, अतर्स्रावी, दव्य-विनिमय संबधी, नार्वअतर्स्रावी ओर कुपोषणजनित नर्वक्लेशिक); पराढालवत एवं ढालवत ग्रथियो की अवक्रिया, अवकोर्टिकता (हाइपोकोर्टीसिज्म), शरीर मे जस्ते की कमी, त्रिप्तोफान-विनिमय मे गडबडी, अविटामिनता, स्व-इमूनी एवं विलबित पैठी-परोर्जिक अवसवेदिता।

इस रोग के साथ-साथ निम्न सवृत्तिया प्रेक्षित हो सकती हैं—एओजीनोफीलिया, लिफोसितोसिस, क्षेत्रीय लसग्रंथिशोथ, नखों का कुपोषण और सिरदर्द। कुछ केस ऐसे भी मिलते है, जिनमे शिरोवल्क, भौंहो, पपनियों और पूरे शरीर के सारे बाल (लोम, केश, रोएं) झड़ जाते हैं। पूर्ण दुर्दम निर्लोमता उन रोगियों में विकसित होती हे, जिनमें आनुवशिक कुयोग, अवढालवत्ता और अवकोर्टिकता होती है।

बच्चे कभी-कभी रोग के एक बहुत ही कुटाली रूप से ग्रस्त हो जाते हे, जिसमे खल्वाटता की टेढी-मेढी पट्टी पश्चकपाल से कानों तक पहुच जाती है (सेल्सस की सर्पता, सीमेन्स की सीमावंत खल्वाटता)।

कवकों के लिये बालो और शल्को के सूक्ष्मदर्शन के नकारात्मक परिणाम, सीरमलोचनी परीक्षणों के नकारात्मक परिणाम और सीफिलिस की अन्य अभिव्यक्तियो की अनुपस्थिति द्वारा इस रोग को सीफिलिसी खल्वाटता और शिरोवल्क की कवकता से विभेदित किया जा सकता है।

चिकित्सा—निम्न औषधियां प्रलिखित की जाती हैं—विटामिन A, E, C, H, D B संकुल और साथ ही निकोटिनिक पाटोथेमिक तथा फोलिक अम्ल एव प्रसाधन बेरोक्सान प्सोरालेन आमीफूरिन मेलाडीनीन हार्मोनिक

चिकित्सा (ACTH कोर्टिकोस्टेरॉइड) और प्रशामक प्रयुक्त होते है।

बाह्य चिकित्सा में स्थानिक रक्तस्फीति उत्पन्न करने तथा तानता बढाने वाले साधन प्रयुक्त होते है। अल्कोहल के तथा अन्य घोल (जिनमें सल्फर, सैलीसीलिक अम्ल और क्लोरल हाइड्रेट मिले रहते है) स्पिग-पेप्पेर का टिचर, आम्मीफूरिन, मेलाडीनीन आदि से मालिश, जिसके बाद पराबैंगनी विकिरण अथवा प्रोटोखेमोथेरापी (PUVE-थेरापी), स्टेरोइड क्रीम और नाफ्थालान आदि।

Rp   T-rae Cantharadıs
     Resorcını
     Ac Salıcylıcı ãã 5 0
     T-rae Capsıcı 10 0
     spırıtus vını 96% ad 100 0
     Glycerını 3 0
     Ol Rıcını 10 0
     MDS बाह्य अनुयोग के लिये

Rp   Sulphur pp. 10 0
     Spırıtus camphor 25 0
     Glycerını 15 0
     Ac. lactıcı 1.0
     Aq destıll 120 0
     MDS बाह्य अनुयोग के लिये

बक्की की सीमात (बोर्डरलाइन) किरणें, पराबैंगनी विकिरण और (दार्सोवालीकरण—उच्च आवृत्ति एवं उच्च वोल्टता की प्रत्यावर्ती विद्युत्-धारा का उपयोग) भौतिकीय चिकित्सा की लाभकर रीतिया है। कार्बन-डाई-आक्साइड की बर्फ और वीनिल क्लोराइड से शीत-चिकित्सा, शीत-मालिश और विद्युत्ब्रश से मालिश का भी उपयोग होता है।

चर्म-वर्णकता की गड़बड़ियां

चर्म की वर्णकता तीव्र हो जाती है (अतिवर्णकता) या क्षीण (अवर्णकता)। वर्णकता की गडबडियां द्वितीयक हो सकती है (किसी प्राथमिक या द्वितीयक चर्म-क्षति की अवगति या उपशमन के बाद) या प्राथमिक। अतिवर्णकता चर्म में मेलानिन नामक वर्णक का उत्पादन तीव्र होने से विकसित होती है। अवर्णकता मेलानिन के अपूर्ण या उसकी बिल्कुल अनुपस्थिति से हानी है

झाँरिकाए और अक्सर गर्भवती स्त्रियो के चेहरो पर कत्थई भर
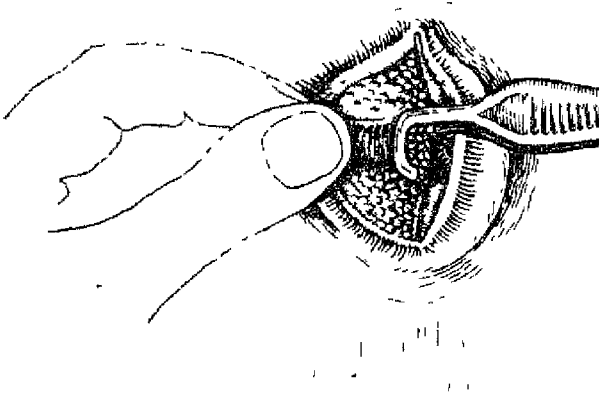
श्वित्र

धब्बे) सीमित अतिवर्णकता से सबंधित है, जबकि श्वित्र (वीटीलीगो) और विरल सवृत्ति निरंजता मेलानिन की अनुपस्थिति से लछित रोगो से संबधित है।

श्वित्र

श्वित्र धड़ या हाथ-पैरो के चर्म-क्षेत्रो पर मेलानिन के लोप से लंछित होता है। यह किसी भी उम्र के लोगों में पाया जा सकता है, लेकिन अधिकाशतः बचपन और किशोरावस्था में होता है।

हेतुलोचन और गदजनन अज्ञात है। अतर्स्रावी गडबडियो के सिद्धांत और रक्त में तावे, लोहे व सूक्ष्म पोषक तत्त्वो (ट्रेस एलिमेंटों) की कमी या मेलानोजनन मे भाग लेने वाले खमीरो की सक्रियता मे कमी या उसके पूर्ण दमन का सिद्धात अधिकाशतः मान्य है।

आक्रांति अक्सर हाथो (हथेलियों के पीछे) और धड़ पर सममित रूप से अवस्थित होती हैं और अक्सर वृहत क्षेत्रो पर फैल जाती है। अतिवर्णकित वलयो से घिरे हुए वर्णकहीन श्वेत धब्बे वन जाते है। श्वित्र के क्षेत्रो पर लोम (रोए) बने रहते है, लेकिन अक्सर वे भी निर्वर्णकित हो जाते है।

निर्वर्णकित क्षेत्रो में कभी-कभी अतिवर्णकता के द्वीप भी देखे जाते है। श्वित्र के धब्बे सगमित हा सकते हैं इस स्थिति में वे पेट पीठ और नितंबों के वृहत क्षेत्रों

पर और कभी-कभी तो पूरे धड पर छा जाते है। जब श्वित्र के साथ बीच-बीच मे सामान्य चर्म भी होता है, तो त्वचा चितकबरी लगती है। श्वित्र के अधिकेंद्र (आक्राति क्षेत्र) परावैगनी किरणों तथा सौर स्पेक्टस के प्रति अतिसंवेदी होते है। कभी-कभी निर्वर्णकित क्षेत्रों के प्रकट होने से पूर्व वहां ललामक्लेशिक अधिकेंद्र भी बन जाते है। कोई आत्मगत अनुभूति, श्वित्र-धब्बों का शल्कन या अपोषण नही होता।

श्वित्र के साथ-साथ कठचर्मता, खोतेदार खल्वाटता आदि भी हो सकती है।

ऊतलोचनी चित्र—श्वित्रिक अधिकेंद्रो मे मेलानिन की पूर्ण अनुपस्थिति और उनकी किनारियों पर मेलानिन का विशेष जमाव होता है। अधिकेंद्रो के पीछे अधिचर्म और सुचर्म में हल्की शोथी प्रक्रिया की पृष्ठभूमि देखी जाती है।

चिकित्सा—फुरकोमारिन (furconmarin) के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते है। मेलाडीनीन, आम्मीफूरिन, बेरोक्सान, प्सोरालेन, फुरालेन और प्सोबेरान। मेलाडीनीन खाने के पहले मुखमार्ग से दो या तीन बार ग्रहण किया जाता है (चिकित्सा के एक दौर में 200 से 400 टिकिया लगती हैं)। साथ ही श्वित्र के अधिकेंद्र मेलाडीनीन के अल्कोहलिक घोल (1 ' 1, 1 : 2) से पेंट किये जाते है और दो-तीन घटे बाद 1-2 से 15-20 मिनट के लिये पराबैगनी विकिरण की ललामिक खुराक के प्रति अनावृत किये जाते हैं। चिकित्सा का एक दौर 15 से 20 अनावृतियो मे समाप्त होता है। चार से छ· सप्ताहो के अतरालो पर इस चिकित्सा के तीन या चार दौर की सलाह दी जाती है। आम्मीफूरिन और बेरोक्सान बाह्य रूप मे (टिचर की तरह) और मुखमार्ग से (0 2 ग्राम की टिकियो के रूप मे) प्रयुक्त होते है (चिकित्सा के एक दौर मे 250 से 300 टिकियां लगती है); इसके साथ-साथ 0.5 प्रतिशत सांद्र Sol Cupri sulfurici के दस बूद खाने के बाद दिन मे तीन बार ग्रहण किये जाते है। फूरोकूमारिन से चिकित्सा के साथ-साथ धमनी दाब पर निगरानी रखी जाती है, मूत्र व रक्त की जांच करायी जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइडो की हल्की खुराके कुछ केसों में कारगर सिद्ध होती हैं। नन्हे श्वित्र-अधिकेंद्रो में).2-1 मिलीलीटर हाइड्रोकार्टीजोन-निलंबन की सुइया (कुल 5-10 अवचार्म सुइय) कुछ केसों मे वर्णकता को पुनर्स्थापित कर देती हैं। विटामिन B_1 व B_2 और निकोटिनिक अम्ल प्रलिखित किये जाते है।

भविष्यवाणी अधिकांश केसों में प्रतिकूल ही होती है। वर्तमान चिकित्सा रीतिया कुछ केसो में प्रक्रिया को आगे बढने से रोक लेती है और कुछ मे रोग को ठीक भी कर देती है। स्वत स्फूर्त रूप से ठीक होना बहुत ही विरल है।

आधारार्ब

दुर्दम चर्म-अर्बुद

ा आधार-कोशिकीय कर्कार्ब या आधार-कोशिकीर

ा चर्म-कैंसरों के लगभग 80 प्रतिशत केसों में पाया जाता है। यह
क रूप से ही दुर्दम चर्म-अर्बुदों के ग्रुप में शामिल किया गया है
न-रीति से इसका प्रसार विरल है और रोगी की इस रोग से मृत्
ी। हेतुलोचनी रूप से आधारार्ब अपभ्रूणीय (भ्रूण-विकास की
ाथ कहीं अधिक संबध रखता है, बनिस्बत कि कैंसरजनक क्षोभकों

चित्र मद वर्धन से लक्षित होता है। आधार-कोशिकीय उपकलार्ब
वेंका या गोल परिसीमित अतिशृंगनता से उत्पन्न होता है। लक्षक

(विशेषता-सूचक) लक्षण निम्न है—हल्का गुलाबी रंग, शोथी घटक की अनुपस्थिति, पतली और अपेक्षाकृत कठोर, शोफित किनारी, जो चमकदार और दूर कुर्भीविस्फारण से बिंधी होती है। शोफ के क्षेत्र मे अलग-अलग नन्हे चमकदार मोती जैसे पिटक भी पाये जा सकते है, जो उपकलार्ब के लिये बहुत ही गदांचीनक लक्षण है। अधिकेंद्र के मध्य मे एक पिटक बनता है, जिसका अपरदन होता है, फिर उस पर खड्डी बनती है। अधिकेंद्र क्रमशः वर्धित और व्रणित होता है। अधिकांश केसो मे व्रणन (जो महीनो और वर्षो की अवधि में उत्पन्न होता है) सतह पर बहुत धीरे-धीरे फैलता हुआ बढता है। व्रण की तली चिकनी होती है और चारों ओर की सूजन सतत या अलग-अलग कणो के रूप मे होती है, सूजन का घनत्व उपास्थि जेसा होता है।

क्षताकन व्रण के केंद्र और उसकी किसी एक किनारी पर एक साथ शुरू होता है। व्रण का गहराई मे जाना कम प्रायिक होता है; यदि जाता है, तो इसका अतर्स्यद नीचे के ऊतकों और यहा तक कि अस्थियों को भी नष्ट करने लगता है।

ऊतलोचनी परीक्षण से पता चलता है कि कोशिकाओ में छत्ते जैसा वर्धन हो रहा है। नाभिक बहुत बड़े होते है, प्रोटोप्लाज्म बहुत क्षीणता के साथ व्यक्त होने हैं, जो अधिचार्म आधारीय कोशिकाओं की तरह ही होते है। उनमे ग्लूकोजन नही होता और उन्हें चद विद्युत्-प्रकाशिकीय गुणो के आधार पर पहचाना जाता है। उनका प्रोटोप्लाज्म वर्धित ओस्मिओफीलिआ द्वारा लंछित होता है। सूत्रलवो मे विस्तृत विषमताए नजर आती है।

यहां हम आधारार्ब के निम्न रूपों को सक्षेप मे देखेंगे—(1) सतही आधार-कोशिकीय उपकलार्ब, जो मुख्यत धड़ पर स्थित होता है और परिसर मे बहुत धीरे-धीरे फैलने वाले धब्बे के रूप मे व्यक्त होता है, इसके गिर्द पतले व अपेक्षाकृत कठोर पिटको का घेरा होता है, केंद्र मे शल्की खड्डी पड जाती है, जिसके गिरने पर अपोपित ललामक्लेशिक सतह नजर आती है; (2) चपटा क्षतांकी उपकलार्ब सतही होता है और अक्सर कनपटी के चर्म पर बनता है, यह केंद्र में क्षताकी-अपोषज परिवर्तनों और सूजी हुई किनारियों वाले विसर्पी उत्वर्ध द्वारा लंछित होता है, (3) कठचर्मता जैसा आधारार्ब, जो छोटे सिक्के के आकार का धब्बा होता है, इसका रंग हाथी-दात की तरह होता है और यह अक्सर ललाट पर उत्पन्न होता है; (4) पर्विकीय उपकलार्ब, जो बाजरे से लेकर मटर के बराबर तक का गोल, कठोर गुल्म होता है, जो छोटी खड्डियों और क्षताको से ढका होता है, यह ललाट, पलको और शिरोवल्क पर होता है। एक कठोर, गहरे क्रेटर जैसे व्रण भी बनते है, जिनकी तली असमतल होती है (छेदक व्रण, जो अक्सर चेहरे के ऊपरी अर्ध पर होता है) ये व्रण एक द्रुत प्रगामी प्रक्रिया द्वारा लंछित

होते है, जिसमे गहरे ऊतक की विमृति होती है, मोती के रग के सूजन नही होते, अस्थियो और उपास्थियो का विनाश होने लगता है, तीव्र रक्तस्राव और छूने मे दर्द होता है, लेकिन अपवहन की प्रवृत्ति नहीं होती (इनके सामान्य स्थल नथूने, कर्ण-पालिका, मुंह के कोने और पलक है)।

चिकित्सा—ओमेन (Omain) के मलहम, 5 प्रतिशत पोडोफीलिन वाजेलीन, शीत चिकित्सा और करोर्जिक पारतापन का उपयोग (व्रण बनने से पूर्व) लाभदायक होता है। निकट नाभि वाली एक्स-रे-चिकित्सा, रश्मिसक्रिय समस्थो का प्रयोग और अर्बुद को करोर्जन से दूर करना (जिसके बाद विकिरण और आवश्यकता पडने पर चर्मारोपण किया जाता है)—यह सब उपकलार्ब के व्रणन की अवस्था मे लाभदायक होता है।

कंटकोशिकीय उपकलार्ब

कटकोशिकीय उपकलार्ब या चर्म की काटल कोशिकाओ का कर्कार्ब वास्तविक शल्क-कोशिकीय कर्कार्ब है, जो दुर्दम अंतर्स्यंदी एव विनाशकारी प्रवर्ध एव अपवहन द्वारा मुख्यत· लसजनक मार्ग से लछित होता है। यह विभिन्न रासायनिक या भौतिकीय क्षोभको के कारण और श्वेतसिलत्व, श्वेतशृगनता, बुढापे के शृंगार्ब, वृका के क्षतांको तथा एक्सरेजनित व्रणों की पृष्ठभूमि पर भी उत्पन्न होता है। विवर्ण त्वचा वाले रोगियों में इस रोग के प्रति प्रवणता अधिक होती है। कटकोशिकीय उपकलार्ब सतही शल्की पिटको के रूप में होता है। इन पिटको से मसानुमा प्रवर्ध तेजी से बढ़ने लगते हैं, इनके केंद्रो में अपघटन शुरू हो जाता है और क्रेटर जैसे व्रण बनने लगते हैं। प्रारंभिक प्रसार अपवहन की विधि से क्षेत्रीय लसपर्वो तक प्रेक्षित होता है। अर्बुद चर्म के किसी भी क्षेत्र पर उत्पन्न हो सकता है, फिर भी इसके प्रिय स्थल नैसर्गिक द्वारों के गिर्द, मुख-श्लेष्मला (जीभ), गला, हथेलियों के पीछे और जबडे है।

कर्कस (कैंक्रोइड) कंटार्व का एक अंतर्स्यंदी रूप है। यह कठोर, मुश्किल से हिलने वाला पीडाहीन अर्बुदों के रूप में व्यक्ति होता है, जिनकी अवछिन्न (अ-सतत) किनारिया विदारों से कटी-फटी होती है। अर्बुद अक्सर व्रणित हो जाते है और सरलता से रक्तस्राव करने लगते है।

पिटिकीय (पनपू) काटल (कंटकोशिकीय) कर्कार्ब एक एक्सोफीटिक चपटा मसानुमा अर्बुद है, जो फूलगोभी की तरह बढता है; इसमें अपघटन की प्रवृत्ति होती है। इसके प्रिय स्थल निचला होंठ और जननेंद्रिय के क्षेत्र है।

ऊतगदलोचन—अविशिष्ट (अविभेदित) कटकोशिकाओ का जाल जैसा बहुलन और मोती जैसी केराटोटिक केशिकाओं के खोते पाये जाते हैं अर्बुद की

कोशिकाए सुचर्म और अवश्लेष्म को वेधकर पहुच जाती है। सीतोप्लाज्मा मे रीबोनुक्लेइक अम्ल की मात्रा और खमीरी सक्रियता बढती है (डीहाइड्रोजेनाज और क्षारीय फोस्फाटाज की)।

चिकित्सा—निकट-नाभि वाली एक्स-रे-चिकित्सा का प्रयोग होता है। अर्बुद को विद्युत् करार्जन से स्वस्थ ऊतकों समेत उच्छेदित कर दिया जाता है, लसपर्वो को दूर किया जाता है और इसके बाद रेडियो-चिकित्सा और 0 3 प्रतिशत ओलीवोमीसिन का मलहम प्रयुक्त होता है।

क्रव्यार्ब

चर्म का क्रव्यार्ब प्राथमिक या द्वितीय (अपवहन से उत्पन्न) हो सकता है। क्रव्यार्ब अपरिपक्व योजक ऊतकों का एक दुर्दम नौवर्ध है। चर्म-क्रव्यार्ब शुरू मे सुचल होते है (अपने स्थान से हिलडुल सकते हैं, एक जगह दृढता से जमे नही होते) और द्रुत वर्धन द्वारा लछित होते हैं। इसके ऊपर का चर्म भी सुचल और अपरिवर्तित होता है। बाद मे ऊपर का चर्म लाल-बैगनी हो जाता है और अर्बुद बहुत कड़ा हो जाता है, व्रणन एव वर्धन जारी रखता है। पूयरक्तिल स्राव वाले गहरे व्रण बनते है। लसपर्वो तथा अस्थियों तक अपवहन होता है। क्रव्यार्ब एक मेलानोकोशिकीय तिल से शुरू हो सकता है (अक्सर चोटज क्षति के बाद, स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया बहुत विरल है)। इसके बाद उसका अतर्स्यदन शुरू हो जाता है, वह काला और वर्धित होने लगता है। परिसर मे एक शोथी वलय पाया जाता है। तिल व्रणित होता है, लसपर्वो, यकृत तथा मस्तिष्क की ओर अपवहन होता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

तीव्र प्रवाह ग्रहण करने वाले क्रव्यार्ब मे मृत्यु कुछ महीनों में हो जाती है। चिरकालिक प्रवाह में रोगी कई वर्षो तक जीवित रहता है।

गर्म देशों के कुछ चर्म रोग

पिंता (स्पेनिश pinta, अर्थात् नन्हा धब्बा) एक चिरकालिक अ-रतिज रोग है जो मुख्यतः मध्य एव दक्षिणी अमरीका और पश्चिमी अफ्रीका के देशो में पाया जाता है। इसका निमित्त कारण त्रेपोनेमा करातेउम है, जो दैनंदिन निकट सपर्क से संक्रमण करता है।

एक से तीन सप्ताह के अतर्शयन-काल के पश्चात् प्राथमिक क्षति विकसित होती है। इसकी प्रकृति चपटे शल्की अ-व्रणित पिटक की होती है जो परिसर मे प्रसार करता है और विस्तृत ललामिक शल्की चकत्ते बनाता है त्रेपोनेमा पालीडुम

जैसे जीवाणु प्राथमिक अधिकेंद्रों मे सफलतापूर्वक पश्चात मे आ जाते है, अधिरुद्ध अक्सर शरीर का कोई भी अनावृत स्थल हो सकता है।

द्वितीयक क्षतिया पितास (स्पेनिश 'पिता' और हिंदी 'अस' अर्थात् 'ऐसा', 'सदृश') पैठन के 5 से 12 महीने बाद उत्पन्न होते है। ये विसंगित कद्रूक धब्बो और लाल, हल्के नीले तथा भूराभ श्वेत पिटको द्वारा लक्षित होते है। शल्कन अधिकेंद्र के मध्य में और निर्वर्णकता परिसर मे देखी जाती है। क्षतियां खर्जुक्लेश, सीफिलिद और दिनायस से मिलते-जुलते हो सकते है।

तृतीयक चरण कई महीनो बाद और कभी-कभी कुछ वर्षो बाद आता हे। यह चर्म मे अपरजक परिवर्तनों द्वारा लक्षित होता है। गंदले रग के धब्बों के बीच-बीच में अतिवर्णकित क्षेत्र आ-आकर एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत करते है। हथेलियो और तलवों पर चर्म मोटा तथा निर्वर्णकित हो जाता है। लसग्रंथिरुग्णता विकसित होती है। निमित्त कारण लसपर्वो मे प्राप्त द्रव्य में अनुवेदित हो सकते हैं।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टिन-प्रतिक्रिया प्रथम दो चरणो मे 75 प्रतिशत और तीसरे चरण में 100 प्रतिशत रोगियो मे धनात्मक होती है। त्रेपोनेमा पालीडुम का निश्चलकरण-परीक्षण पूरे रोग-काल मे धनात्मक (पुष्टिकारक) होता है।

चिकित्सा—प्रतिजीवको का उपयोग होता है।

बेजेल (अरबी सीफिलिस) एक त्रेपोनेमा-प्रेरित अरतिज रोग है, जो अरबी देशों मे पाया जाता है। इसका निमित्त कारण त्रेपोनेमा बेजेल है, जो रूपलोचनी तौर पर सीफिलिस, पिता और फ्राबे जिया उत्पन्न करने वाले त्रेपोनेमा-जीवाणुओ से मिलता-जुलता होता है। पैठन के प्रसार (या संक्रमण) का सबध बुरी हाइजीनिक परिस्थितियो के साथ है। यह अधिकांशतः बच्चो को होता है।

चर्म एव श्लेष्मल झिल्लियो की रालार्बिक-व्रण्य क्षतियां, अस्थिपर्यस्थिशोथ, सधिवर्ती पर्व, मुख-श्लेष्मला पर पनपू पिटक तथा धब्बे, हथेली और तलवे का शृगीक्लेश, खल्वाटता और श्वित्र के अधिकेंद्र विकसित होते हैं।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टिन-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है।

चिकित्सा—प्रतिजीवक (पेनीसिलिन, तेत्रासिक्लीन, एरीथ्रोमीसिन, ख्लोराफेनीकोल) प्रलिखित किये जाते हैं।

ट्रौपिक फ्रांबेजिया (न्युपदंश) उष्ण कटिबधीय क्षेत्रो का एक रोग है। इसके निमित्त-जीवाणु त्रेपोनेमा पेर्तेनुए कास्तेलानी है। इसका प्रसार (या सक्रमण, पैठन) निकट दैनदिन (अयौन, अरतिज) संपर्को, चर्म की चोटज क्षति और कीट-दंशो से होता है। इसका अतर्जानपदिक प्रसार सिर्फ जनता की सामाजिक एव हाइजीनिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है जो कुछ उपनिवेशी देशो मे बहुत बुरी

थी। बच्चो और किशोरो मे इस रोग के प्रति विशष प्रवणता होती है।

तल्पिक प्रवाह के अनुसार फ्राबेजिया सीफिलिस से बहुत मिलता-जुलता होता है। दो स चार सप्ताह के अतर्शयन-काल के पश्चात् एक प्राथमिक अधिकेद्र बनता है। यह अतिरक्तिल वलय से घिरे हुए नन्हे पनपू पिटको से लछित होता है। पिटक तेजी से बढते हैं, व्रणित होते है और खड्डियो से ढक जाते है। खड्डी गिरने पर चौरस तथा हल्का वर्णकित क्षताक रह जाता है। प्राथमिक आक्राति ज्वर, सधिवेदना और सिरदर्द की पृष्ठभूमि में विकसित होती है। एक से तीन महीने बाद द्वितीय स्फोट विकसित होते है। ये है--बहुसख्य, वृहत, सगमी, मसानुमा, पनपू पिटक, जो देखने में रास्पबेरी (रसभरी) जैसे लगते है (फ्रांसीसी शब्द 'फ्रांबेजिया' का अर्थ रास्पबेरी ही है)। ये पिटक आर्द्र पीली खड्डियों से ढंके होते हैं, जिनका आकार 1-2 सेटीमीटर होता है। ललामक्लेशिक-शल्की तथा गुलाबिकीय धब्बे और शैवाकवत मशिकीय तथा केराटोटिक पिटक भी द्वितीय चरण के लिये लंछक होते हैं। चर्म-पुटकों के स्थल पर विपुल कणमय पिटिकार्बिक विरचनाएं उत्पन्न होती हैं। कुछ सप्ताहो या महीनो मे क्षतियां अवगामी होती है और अपने पीछे निर्वर्णकित या अतिवर्णकित शल्की क्षेत्र छोड जाती है।

द्वितीय स्फोटों से पूर्व ज्वर, लसग्रंथिरुग्नता, पर्यस्थिशोथ, अस्थिवेदना, रुमैटीवत पीड़ाजनक संवृत्तियां और पाचन में गडबडी प्रेक्षित होती है।

तृतीय चरण पैठन के सात से दस साल बाद विकसित होता है, जो फटकर अनियमित, अपरदित किनारियों वाले कणीभूत (ग्रैनुलेटिग) पिटिकार्बिक व्रण बनाते हैं। ठीक होने पर विकृत (कुरूप) क्षताक रह जाते हैं। अक्सर पैरो मे रालार्बिक अस्थिपर्यस्थिशोथ के कारण तलवार की तरह मुडे हुए पैर हो जाते है, आदमी अपंग हो जाता है, अस्थियो में स्वतःस्फूर्त विभंजन (विदार, टूटन आदि) होने लगते है।

मुंह, नासाग्रसनी, नेत्र-कोटरो मे ऊतको के तीव्र विकृतकारी कणार्बिक पूयिक क्षतियां होती है। द्रुत विमृतिक अपघटन के कारण वे एक कोटर के रूप मे सगमित हो सकती हैं। बहुसख्य, घने, मद गति से वर्धन करने वाले गुल्म कोहनियो, घुटनो तथा अन्य संधियों पर उत्पन्न होते है (सधि-पर्व), जो नीचे के ऊतको के साथ सगलित हो जाते है, यह रोग एक लंछक अभिव्यक्ति है।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टन-प्रतिक्रिया के परिणाम फ्रांबेजिया मे स्थायी तौर पर धनात्मक रहते हैं। बिओप्सी से त्रेपोनेमा अनुवेदित होते हैं।

चिकित्सा—एटी-सीफिलिसी चिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। पेनीसिलिन,

और विस्मथ के प्रलिखित किये जाते हैं